आन्तरिक शक्तियों को उद्घाटित करना

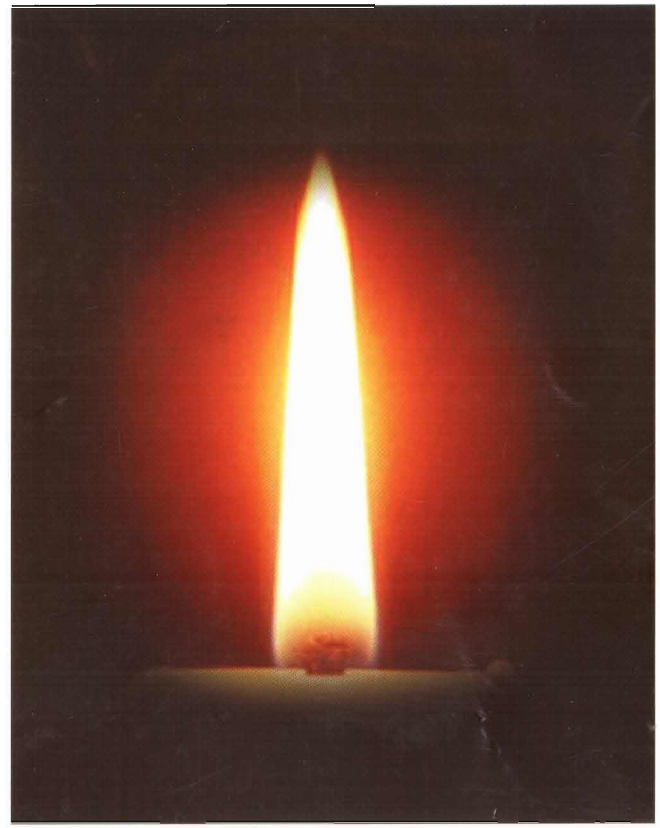

अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका

सितम्बर २०१४

अग्निशिखा सितम्बर २०१४ वर्ष ४५, अंक २, पूर्णांक ५२९

विषय-सूची

प्रार्थना श्रीमां ३

श्रीअरविन्द तथा श्रीमां के वचन

उचित मनोवृत्ति की शक्ति ४
एकाग्रता की शक्ति ९
'इच्छा' या 'संकल्प' की शक्ति १७
कल्पना की शक्ति २३
भावनात्मक सन्तुलन की शक्ति २८
आत्म-सचेतनता की शक्ति ३६
आन्तरिक पथ-प्रदर्शक की शक्ति ४०

'पुरोधा'

दैनन्दिनी ४८
एक साधक के साथ पत्र-व्यवहार 'श्रीमातृवाणी' से ५१
अनमोल भेंट वन्दना ५४

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका
Website: www.aurosociety.org

सम्पादिका : वन्दना
प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२
मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

उद्‌बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि

प्रार्थना

हे प्रभो, मुझे अपना प्रकाश दे, वर दे कि मैं कोई भूल न करूं, वर दे कि मैं जिस अनन्त आदर-सम्मान, जिस अत्यधिक भक्ति, जिस तीव्र और गभीर प्रेम के साथ तेरी ओर अभिमुख होती हूं वह प्रदीप्त करने वाला, विश्वासोत्पादक और संक्रामक हो और सभी के हृदयों में जागे।

हे प्रभो, शाश्वत स्वामी, तू मेरा प्रकाश और मेरी शान्ति है, मेरे चरणों को राह दिखा, मेरी आंखें खोल, मेरे हृदय को प्रबुद्ध कर और तेरी ओर सीधा ले जाने वाले मार्ग की ओर मुझे चला।

हे प्रभो, प्रभो, वर दे कि तेरी इच्छा के सिवा मेरी कोई और इच्छा न हो और मेरे सभी कर्म तेरे दिव्य विधान की अभिव्यक्ति हों।

एक महान् ज्योति मुझे परिप्लावित कर रही है और मैं तेरे सिवा और किसी चीज के बारे में सचेतन नहीं हूं...।

शान्ति, शान्ति, सारी भूमि पर शान्ति।

—श्रीमां

१३ दिसम्बर १९१३

उचित मनोवृत्ति की शक्ति

... 'जो हो सकता है उसमें अच्छे-से-अच्छे' की समस्या व्यक्तिगत समस्या है, यह व्यक्ति भले एक मनुष्य हो अथवा एक राष्ट्र। सब कुछ व्यक्तिगत मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। यदि जो होने वाला है उसकी परिस्थिति में तुम अपने लिए अधिक-से-अधिक सम्भव ऊंची मनोवृत्ति अपना सको—अर्थात्, यदि तुम अपनी चेतना को अपनी पहुंच की ऊंची-से-ऊंची चेतना के सम्पर्क में ला सको तो, पूरी तरह निश्चय रखो, जो होगा वह जो हो सकता है उसमें अच्छे-से-अच्छा होगा। लेकिन जैसे ही तुम उस चेतना से निचले स्तर पर गिर पड़ो वैसे ही जो होगा वह स्पष्टतः अच्छे-से-अच्छा न होगा और कारण स्पष्ट है—तुम अपनी अच्छी-से-अच्छी चेतना में नहीं हो। मैं निश्चयपूर्वक यहां तक कह सकती हूं कि हर एक के तात्कालिक प्रभाव के क्षेत्र में उचित मनोवृत्ति में इतनी शक्ति होती है कि वह हर परिस्थिति को लाभदायक बना सके, इतना ही नहीं, वह स्वयं परिस्थिति को बदल सकती है।...

अगर तुममें से हर एक अधिक-से-अधिक प्रयास करे तो यह सच्चा सहयोग होगा और परिणाम बहुत अधिक जल्दी आ सकेगा। मैंने उचित मनोवृत्ति की शक्ति के अनेक उदाहरण देखे हैं।

मैंने देखा है कि अकेले आदमी की उचित मनोवृत्ति के कारण जन-समूह महाविपत्ति से बच गये हैं। लेकिन यह ऐसी मनोवृत्ति होनी चाहिये जो शरीर को अपनी साधारण प्रतिक्रियाओं में छोड़ कर कहीं किन्हीं ऊंचाइयों पर नहीं रहती। अगर तुम इस तरह ऊंचाइयों पर रहो और कहो, "भगवान् की इच्छा पूरी हो", तो हो सकता है कि इसके होते हुए भी तुम मारे जाओ। क्योंकि हो सकता है कि तुम्हारा शरीर बिलकुल अदिव्य हो और भय से कांपता रहे। जरूरी बात यह है कि सत्य-चेतना को स्वयं शरीर के अन्दर प्रतिष्ठित रखा जाये, जरा भी भय न हो, और सत्ता में भागवत शान्ति भरी हो। तब वास्तव में कोई खतरा नहीं है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १४८-४९

... यह जरूरी है कि प्रगति के लिए प्रयास इसलिए किया जाये

क्योंकि प्रगति के प्रयास के लिए हमें प्रेम है। फल से स्वतन्त्र, प्रयास का आनन्द, प्रगति के लिए अभीप्सा ही अपने-आपमें पर्याप्त होनी चाहिये। ... सचमुच, जीवन में, सदा, हर वस्तु में, फल पर हमारा अधिकार नहीं होता। और यदि हम सच्ची मनोवृत्ति अपनाना चाहते हैं तो हमें सहज तरीके से काम करना, अनुभव करना, विचार करना और प्रयास करना चाहिये, क्योंकि **वही** है जिसे करना चाहिये, किसी वाञ्छित परिणाम को दृष्टि में रख कर नहीं।

जैसे ही हम फल के बारे में सोचते हैं हम सौदेबाजी पर उतर आते हैं और यह प्रयास की सारी सच्चाई को छीन लेता है। तुम प्रगति के लिए प्रयत्न करते हो क्योंकि तुम अपने अन्दर इसकी आवश्यकता महसूस करते हो, प्रयत्न और प्रगति करने के लिए **अनिवार्य** आवश्यकता; ...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २९४

जब तक तुम अपने-आपको रूपान्तरित करने और रूपान्तरित न करने की इच्छा के बीच डुलाते रहो—प्रगति के लिए प्रयास करने और क्लान्ति द्वारा सभी प्रयासों के प्रति उदासीन होने के बीच—तब तक सच्ची वृत्ति न आयेगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १६७

"उचित भाव" क्या है?

यह तो अवस्था पर निर्भर करता है, मेरे बालक। उचित भाव है अपने-आपको पूर्ण करने का संकल्प, या शान्त रहने का संकल्प, या... यह निर्भर करता है, देखो, यह परिस्थितियों पर निर्भर करता है। ... हर परिस्थिति में एक भाव होता है जो उसका उचित भाव है, वह भाव जो तुम्हारे अन्दर होना चाहिये, वह वृत्ति जो तुम्हें अन्दर से अपनानी चाहिये। यह अवस्था पर निर्भर करता है।

उदाहरण के लिए, है न, जैसे ही तुम शारीरिक असन्तुलन का, अस्वस्थता की लहर के आने का अनुभव करो, तो उस समय उचित भाव में एकाग्र होने का मतलब होगा आन्तरिक शान्ति में एकाग्रता, भागवत

'कृपा' पर श्रद्धा और भौतिक सन्तुलन और स्वस्थ रहने का संकल्प। यही उचित भाव है। एक और मामले में, आदमी को यह लग सकता है कि गुस्से की लहर या ताव बाहर से आ रहा है; तब उसे अपने-आपको आन्तरिक शान्ति में खींच लेना चाहिये, सतही चीजों से अपने-आपको काट लेना चाहिये। संकल्प यह होना चाहिये कि हम केवल उसी चीज को व्यक्त करें जो ऊपर से आती है, और हमेशा भगवान् की 'इच्छा' के प्रति समर्पित रहें। यही उचित भावना है। हर मामले में चीज कुछ ऐसी ही होती है।...

लेकिन एक स्थिति में तुम शान्ति चाह सकते हो, दूसरी स्थिति में तुम शक्ति चाह सकते हो, एक तीसरी ही स्थिति में तुम्हें स्वास्थ्य की चाह हो सकती है, और किसी और स्थिति में किसी ऐसी चीज की जो बाहर से पड़ने वाले दबाव का प्रतिरोध कर सके।

जब तुम उलझन में होते हो, जब तुम्हें चुनाव करना होता है, जब तुम्हें पता नहीं होता कि ठीक कौन-सी चीज करनी चाहिये—तुम्हें दो, तीन या चार सम्भव निर्णयों से किसी एक को चुनना हो और यह समझ में न आ रहा हो कि कौन-सा ठीक निर्णय है, तब जहां तक हो सके, तुम्हें अपने-आपको चैत्य पुरुष के, अपने अन्दर दिव्य 'उपस्थिति' के सम्पर्क में लाना चाहिये और अपनी समस्या चैत्य चेतना के आगे रख कर सच्चे प्रकाश के लिए, सच्चे निर्णय के लिए, एक ऐसे निर्णय के लिए जो भागवत 'इच्छा' के सबसे अधिक अनुकूल हो, मांग करनी चाहिये, और प्रेरणा को सुनने और ग्रहण करने के लिए कोशिश करनी चाहिये।

तुम देखोगे कि हर एक अवस्था में, यही उचित वृत्ति है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३३३-३४

मां, क्या खेल-कूद हमारी प्रगति के लिए आवश्यक हैं?

नैतिक शिक्षा की दृष्टि से वे काफी हद तक आवश्यक हैं, क्योंकि यदि तुम उनमें उचित वृत्ति के साथ भाग ले सको तो यह तुम्हारे लिए अपने अहंकार को वश में करने का एक बहुत अच्छा अवसर है। पर यदि तुम उसमें भाग तो लो पर अपनी दुर्बलताओं और निम्न प्रवृत्तियों को जीतने का

कोई प्रयत्न न करो तो स्पष्ट ही तुम उनसे लाभ उठाना नहीं जानते और तब कोई फायदा नहीं होता। किन्तु यदि तुम ठीक वृत्ति के साथ खेलने की भावना रखते हो और निम्न वृत्तियों को, ईर्ष्या या महत्त्वाकांक्षा को नहीं आने देते और उस भाव को जिसे "खिलाड़ी-जैसा सही भाव" कहते हैं, अर्थात् अपना पूरा प्रयत्न करते हुए परिणाम की चिन्ता किये बिना, इस भाव को बनाये रखते हो, मतलब यह कि यदि तुम अधिकतम प्रयास करते हो और सफलता न मिलने पर या चीजें अपने पक्ष में न होने पर दुःखी नहीं होते तो प्रतियोगिता में भाग लेना बहुत उपयोगी है। इन सब प्रतियोगिताओं से तुम्हें महत्तर आत्म-नियन्त्रण और परिणाम के प्रति अनासक्ति के भाव की प्राप्ति हो सकती है जिससे असाधारण चरित्र के गठन में बड़ी सहायता मिलती है। अवश्य ही, यदि तुम इन चीजों को सामान्य ढंग से करो, सामान्य प्रतिक्रियाओं और ओछे व्यवहार को बीच में आने दो, तो तुम्हें कुछ भी सहायता नहीं मिलेगी। परन्तु यह बात तो, तुम चाहे जो भी करो, सभी के लिए ठीक है, खेल का क्षेत्र हो या बुद्धि का, जो भी हो, यदि व्यक्ति सामान्य ढंग से काम करता है तो वह अपना समय बर्बाद करता है। परन्तु यदि तुम खेलते समय, साम्मुख्यों और प्रतियोगिताओं में भाग लेते समय उचित वृत्ति बनाये रखते हो तो यह एक बहुत अच्छा शिक्षण है, क्योंकि यह तुम्हें विशेष प्रयत्न के लिए, अपनी सामान्य सीमाओं से थोड़ा आगे बढ़ने के लिए बाधित करता है।

निश्चय ही यह एक सुयोग है जिसमें तुम अपनी बहुत-सी प्रवृत्तियों से सचेतन हो सकते हो, अन्यथा वे सदा अचेतन ही बनी रहतीं।

परन्तु स्वभावतः, तुम्हें यह नहीं भूलना चाहिये कि इन्हें प्रगति में एक सुयोग और साधन बनाना है। यदि तुम, बस, अपने-आपको ऐसे ही शिथिल छोड़े रखते हो और बिलकुल सामान्य ढंग से खेलते हो तो तुम अपना समय बर्बाद करते हो; पर यह नियम तो प्रत्येक चीज के लिए है : पढ़ाई के लिए तथा और सभी चीजों के लिए, वे चाहे जो भी हों। सब कुछ **सदा ही** इस पर निर्भर करता है कि काम को किस तरह किया जाता है, इस पर इतना नहीं कि व्यक्ति क्या करता है, बल्कि उस भाव पर जिसमें वह उसे करता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ९२-९३

भागवत चेतना मानवीय तरीके से कार्य नहीं करती। वह यह निश्चय नहीं करती कि चीनी के कितने चम्मच तुम अपनी कॉफ़ी में डालो। वह तो धीरे-धीरे कामों और चीजों के प्रति तुम्हारी वृत्ति ठीक कर देती है —यह वृत्ति होती है समर्पण, नमनीयता, स्वीकृति, अभीप्सा, सद्‌भावना, मृदुता और प्रगति के लिए प्रयास की—और यह चीज उन छोटे-छोटे निश्चयों से, जो तुम्हें प्रतिक्षण करने होते हैं, कहीं अधिक महत्त्व की है। मनुष्य यह जानने की चेष्टा कर सकता है कि क्या करना सर्वोत्तम रूप से सच्चा है, पर इन बातों को किसी मानसिक विवेचन या मानसिक पहेली के द्वारा सुलझाया नहीं जा सकता। असल में तो एक आन्तरिक वृत्ति के द्वारा, जो समस्वरता के—प्रगतिशील समस्वरता के—वातावरण का **निर्माण करती** है, यह सम्भव होता है कि उसमें व्यक्ति जो कुछ करता है वह सब उस समय की परिस्थिति के अनुसार आवश्यक रूप से सर्वोत्तम होता है। और आदर्श स्थिति तो यह है कि वह वृत्ति इतनी पूर्ण हो जाये कि काम अपने-आप सहज रूप से बाह्य बुद्धि के नहीं, बल्कि किसी दूसरी चीज के आदेश से स्वयं चलता रहे। पर यह, यह तो एक आदर्श अवस्था है—जिसके लिए मनुष्य को अभीप्सा करनी चाहिये और जिसे वह कुछ समय बाद पा भी सकता है।

और तब तक सच्ची वृत्ति, सच्ची अभीप्सा बनाये रखने की सावधानी बरतना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है बजाय यह निश्चय करने के कि तुम सामूहिक व्यायाम करो या न करो, किसी नियत कक्षा में जाओ या न जाओ। क्योंकि इन चीजों का अपने-आपमें कुछ भी मूल्य नहीं है, इनके मूल्य सापेक्ष होते हैं, एकमात्र महत्त्व की चीज है अपनी अभीप्सा को ठीक दिशा देना और प्रगति के लिए जीवन्त संकल्प बनाये रखना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३१-३२

सत्य वृत्ति है विश्वास की वृत्ति, आज्ञाकारिता की वृत्ति, निवेदन की वृत्ति।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. ३१

एकाग्रता की शक्ति

एकाग्रता क्या है?

इसका अर्थ है, अपनी चेतना के बिखरे हुए सभी धागों को एक ही बिन्दु पर, एक ही भाव या विचार पर वापस ले आना। जो लोग पूर्ण मनोयोग की स्थिति प्राप्त करने में समर्थ होते हैं वे जो कार्य हाथ में लेते हैं उसी में सफल होते हैं; वे हमेशा तेज प्रगति करते हैं। और इस प्रकार की एकाग्रता ठीक मांसपेशी की भांति विकसित की जा सकती है; इसके लिए मनुष्य प्रशिक्षण के विभिन्न पथों, विभिन्न पद्धतियों का अनुसरण कर सकता है। उदाहरण के लिए, तुम जानते हो कि अत्यन्त दयनीय दुर्बल व्यक्ति भी नियमित अभ्यास के द्वारा किसी भी अन्य व्यक्ति के समान बलशाली हो सकता है। मनुष्य का संकल्प ऐसा नहीं होना चाहिये जो मोमबत्ती की तरह झिलमिला कर बुझ जाये।

संकल्प-शक्ति को, एकाग्रता की शक्ति को अवश्य बढ़ाना चाहिये; बस, प्रश्न है पद्धति का, नियमित अभ्यास का। यदि तुम चाहो तो कर सकते हो।

परन्तु संकल्प को कमजोर बनाने के लिए यह विचार नहीं उठना चाहिये कि "भला इससे लाभ क्या?" यह भावना कि मनुष्य एक विशिष्ट स्वभाव लेकर पैदा होता है और उस विषय में कुछ भी नहीं कर सकता, एक मूर्खतापूर्ण बात है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ५-६

हृदय-केन्द्र में अपने-आपको एकाग्र करो। हृदय में प्रवेश करो, उसके अन्दर जाओ, उसकी गहराई में उतरो और दूर तक, जितनी दूर तक तुम जा सको जाओ। अपनी चेतना के बाहर बिखरे हुए सभी धागों को एकत्र कर लो, उन्हें समेट कर अन्दर डुबकी लगाओ और तह में जाकर बैठ जाओ।

वहां, हृदय की गभीर शान्ति में एक अग्नि धधक रही है। यही है तुम्हारे अन्तर में रहने वाले भगवान् का दिव्य अंश—तुम्हारी सत्य सत्ता —हृत्पुरुष। इसकी आवाज सुनो और इसके आदेश का पालन करो।

एकाग्रता के लिए दूसरे केन्द्र भी हैं, उदाहरणस्वरूप, एक केन्द्र मस्तिष्क के ऊपर है (सहस्रार), दूसरा भ्रू-मध्य में है (आज्ञा)। इनमें से हर एक का अपना प्रभाव होता है और हर एक किसी परिणाम पर पहुंचाता है। परन्तु केन्द्रीय पुरुष का स्थान हृदय है और हृदय से ही सब केन्द्रीय प्रवृत्तियां निकलती हैं—यहीं से रूपान्तर के लिए समस्त गतिशीलता और वेग तथा आत्मदर्शन करने की शक्ति निकलती है।

उचित रूप में की गयी सम्मिलित एकाग्रता एक महान् शक्ति हो सकती है। एक प्राचीन कहावत है कि यदि एक दर्जन सच्चे मनुष्य अपने संकल्प और अभीप्सा को एक करके भगवान् को पुकारें तो भगवान् प्रकट हुए बिना न रह सकेंगे। परन्तु उनका संकल्प एकनिष्ठ होना चाहिये, अभीप्सा सच्ची होनी चाहिये। हो सकता है कि इस प्रकार का प्रयास करने वाले किसी प्रकार की जड़ता के वश अथवा किसी भ्रान्त या विकृत इच्छा के कारण एक हो गये हों, और तब परिणाम विनाशकारी हो सकता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १, ९७

यह प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि समस्या को हल करने, कोई पाठ पढ़ने के लिए बहुत अधिक एकाग्रता और लवलीनता की—बौद्धिक लवलीनता और एकाग्रता की—आवश्यकता होती है। परन्तु एकाग्रता केवल बौद्धिक वस्तु ही नहीं है, यह सत्ता की सभी क्रियाओं में, यहां तक कि शारीरिक क्रियाओं में भी, पायी जा सकती है। अपनी स्नायुओं पर तुम्हारा ऐसा संयम होना चाहिये कि तुम जो कुछ करते हो उस पर पूर्ण रूप से एकाग्र हो सको और, अपनी एकाग्रता की तीव्रता के द्वारा ही बाह्य स्पर्शों के प्रति तुरत प्रत्युत्तर प्राप्त कर लो। ऐसी एकाग्रता प्राप्त करने के लिए शक्तियों के ऊपर सचेतन प्रभुत्व प्राप्त करने की आवश्यकता होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ४

ध्यान और एकाग्रता में क्या अन्तर है?

ध्यान विशुद्धतः मानसिक क्रिया है; इसमें केवल मानसिक सत्ता रस लेती

है। मनुष्य ध्यान करते समय एकाग्र हो सकता है पर यह मानसिक एकाग्रता है; वह नीरवता प्राप्त कर सकता है पर यह शुद्ध मानसिक नीरवता है, और सत्ता के अन्य भाग अचल-अटल और निष्क्रिय रखे जाते हैं ताकि वे ध्यान में बाधा न डालें। तुम दिन के बीस घण्टे ध्यान में बिता सकते हो फिर भी बाकी चार घण्टे एकदम साधारण मनुष्य ही बने रहोगे, क्योंकि ध्यान के समय केवल मन ही संलग्न रहा है—सत्ता के बाकी अंगों को, प्राण और शरीर को, दबा कर रखा गया था ताकि वे बाधा न डालें। ध्यान में सत्ता के अन्य भागों के लिए सीधे तौर पर कुछ भी नहीं किया जाता।

अवश्य ही इसकी अप्रत्यक्ष क्रिया का कुछ फल हो सकता है पर... मैंने अपने जीवन में ऐसे लोगों को देखा है जिनमें ध्यान करने की अद्‌भुत क्षमता थी, परन्तु, ध्यान से बाहर आने पर, वे अत्यन्त साधारण व्यक्ति बन जाते थे, यहां तक कि कभी-कभी बुरे व्यक्ति बन जाते थे; अगर उनके ध्यान में बाधा पड़ती तो वे आग-बबूला हो उठते थे। क्योंकि उन्होंने केवल अपने मन को ही अपने वश में रखना सीखा था, सत्ता के बाकी अंगों को नहीं।

परन्तु एकाग्रता उससे अधिक सक्रिय स्थिति है। तुम मन में एकाग्र हो सकते हो, प्राण में, चैत्य पुरुष में, शरीर में एकाग्र हो सकते हो। यहां तक कि सर्वांगीण रूप से सत्ता के समस्त भागों में एकाग्र हो सकते हो। एकाग्र होना अथवा एक बिन्दु पर अपने-आपको एकत्र कर लेने में समर्थ होना ध्यान करने से कहीं अधिक कठिन है। तुम अपनी सत्ता या चेतना के एक भाग को एकत्र कर सकते हो अथवा अपनी सम्पूर्ण चेतना को या उसके विभिन्न अंशों को एकत्र कर सकते हो, अर्थात् तुम्हारी एकाग्रता आंशिक, पूर्ण या सर्वांगपूर्ण हो सकती है और प्रत्येक अवस्था में परिणाम अलग-अलग होगा।

अगर तुम्हारे अन्दर एकाग्र होने की शक्ति है तो तुम्हारा ध्यान अधिक मजेदार और करने में अधिक आसान होगा। परन्तु मनुष्य एकाग्रता के बिना भी ध्यान कर सकता है। बहुत-से लोग अपने ध्यान में विचारों की एक शृंखला का अनुसरण करते हैं—इसे ध्यान कहते हैं एकाग्रता नहीं।

... तुम किसी चीज पर एकाग्र होते हो या जहां तक तुम्हारे लिए सम्भव हो अपने-आपको एकत्र करते हो। जब तुम अपनी एकाग्रता में एक प्रकार की पूर्णता प्राप्त कर लो और यदि इस पूर्णता को पर्याप्त दीर्घकाल

तक बनाये रख सको तो एक दरवाजा खुल जाता है और तुम अपनी सामान्य चेतना की सीमा के परे चले जाते हो—तुम एक गभीरतर या उच्चतर ज्ञान में प्रवेश कर जाते हो अथवा अपने अन्दर पैठ जाते हो। तब तुम एक प्रकार की चकाचौंध करने वाली ज्योति का, एक आन्तरिक चमत्कार का, एक प्रकार के आनन्द, पूर्ण ज्ञान, पूर्ण निश्चल-नीरवता का अनुभव करते हो। निस्सन्देह, ऐसी अनेक सम्भावनाएं हैं पर घटनाक्रम हमेशा एक जैसा ही होता है।

इस अनुभव को प्राप्त करना पूरी तरह इस बात पर निर्भर करता है कि अपनी एकाग्रता को उसकी पूर्णता के सर्वोच्च शिखर पर पर्याप्त लम्बे काल तक बनाये रखने की तुम्हारे अन्दर कितनी क्षमता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. ८-९

कभी-कभी हम किसी एक बिन्दु को एकटक देखते रहते हैं; उस समय हम सब कुछ भूल जाते हैं और यदि कोई आवाज हो तो बाधा पड़ती है। यह कौन-सी अवस्था है?

एकाग्रता! एकाग्रता का ठीक यही सिद्धान्त है। क्या तुम इसे सहज रूप से कर सकते हो?

जी हां, बहुत बार।

निश्चय ही, यह बहुत अच्छा है!

जी, मधुर मां, लेकिन उस क्षण मैंने जो सोचा था उसे पकड़ नहीं पाता।

आह!... अगर तुम वहां से हठात् खींच लिये जाओ, तो विचार लुप्त हो जाता है?

जी।

यह इसलिए होता है कि तुम चेतना की एक ऐसी अवस्था में चले जाते हो

जो तुम्हारी चेतना की साधारण अवस्था से भिन्न होती है और सम्भवतः दोनों के बीच भली-भांति सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। उसमें देर लगती है। यह ऐसा है जैसे किसी को पुल बनाना हो। अन्यथा व्यक्ति इस या उस ओर सहसा छलांग लगाता है और छलांग लगाने में यह भूल जाता है कि वहां क्या था। जो अनुभूति प्राप्त हुई थी उसे वह पीछे छोड़ देता है। लेकिन अगर चीज विधिवत् की जाये, यानी, अगर व्यक्ति इसके लिए प्रतिदिन एक विशिष्ट समय रखे, और दस या पन्द्रह मिनट के लिए ध्यान करे, ताकि वह उस चीज और बाह्य जीवन में सम्पर्क स्थापित कर सके, तो कुछ समय बाद वह सफल हो जाता है और फिर व्यक्ति को याद रहता है, और यह चीज बहुत उपयोगी बन जाती है। यह बहुत उपयोगी है। और अगर एकाग्रता की तुम्हारी शक्ति पूर्ण है, तब ऐसी कोई समस्या नहीं जिसे तुम हल न कर सको—इससे मेरा मतलब गणित की समस्याओं से नहीं है (हंसी), मेरा मतलब है उन समस्याओं से जो अपना जीवन बिताने के बारे में, उन निर्णयों के बारे में होती हैं जो हमें लेने पड़ते हैं, ऐसी मनोवैज्ञानिक समस्याएं जिनका समाधान ढूंढ़ने की आवश्यकता होती है। ऐसी एक भी समस्या नहीं जो एकाग्रता की इस शक्ति का प्रतिरोध कर सके।

और वास्तव में एक बिन्दु को लेने में बहुत सुविधा रहती है : व्यक्ति बिन्दु को स्थिर दृष्टि से देखता रहता है, इतनी स्थिर दृष्टि से कि अमुक समय पर वह स्वयं बिन्दु बन जाता है। तब वह बिन्दु को देखने वाला व्यक्ति नहीं रहता, वह स्वयं बिन्दु होता है। और फिर, यदि पर्याप्त शक्ति और शान्ति के साथ, बिना किसी बाधा के तुम इसे जारी रखो, तो तुम सहसा अपने-आपको एक द्वार के आगे पा सकते हो जो खुल जाता है और तुम उस पार चले जाते हो। और तब तुम्हें अन्तःप्रकाश मिलता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ३८०-८१

जब कोई काम करता है और भरसक अच्छे-से-अच्छा करना चाहता है तो उसे समय की आवश्यकता होती है। परन्तु साधारण तौर पर हमारे पास बहुत अधिक समय नहीं होता, हमें हमेशा उतावली रहती है। जब हम उतावली में हों तो हम भरसक अच्छे-से-अच्छा कैसे कर सकते हैं?

यह बहुत ही रोचक विषय है... सामान्य तौर पर जब मनुष्य जल्दबाजी में होते हैं तो जो काम उन्हें करना होता है उसे वे पूर्णता के साथ नहीं करते अथवा जो कुछ वे करते हैं उसे बुरे रूप में करते हैं। परन्तु एक तीसरा तरीका भी है, वह है अपनी एकाग्रता को तीव्र बना देना। यदि तुम ऐसा करो तो तुम आधा समय, यहां तक कि बहुत थोड़े समय में से भी, बचा लोगे। एक बहुत सामान्य उदाहरण ही ले लो : स्नान करके कपड़े पहनना; इसमें जो समय लगता है वह हर मनुष्य के लिए अलग होता है, होता है न? परन्तु हम मान लें कि समय खोये बिना और जल्दबाजी किये बिना सब कुछ कर लेने के लिए आधे घण्टे की आवश्यकता है।

अब, यदि तुम उतावली में हो तो दो बातों में से एक बात होती है : तुम उतनी अच्छी तरह स्नान नहीं करते अथवा ठीक तरह से कपड़े नहीं पहनते! परन्तु एक दूसरा तरीका है—अपने ध्यान को और अपनी शक्ति को एकाग्र कर लेना, जो कुछ कर रहे हो बस उसी की बात सोचो, अन्य किसी चीज की नहीं, बहुत अधिक गति मत करो, अत्यन्त समुचित ढंग से बिलकुल ठीक गति करो, और (यह जीवन में उतारा हुआ अनुभव है, मैं निश्चिति के साथ यह कह सकती हूं) तुम महज एकाग्रता की घनता के द्वारा, जिसे पहले आध घण्टे में करते थे, पन्द्रह मिनट में कर लोगे, और उतनी ही अच्छी तरह, कभी-कभी उससे भी अधिक अच्छी तरह कर लोगे, न तो कोई चीज भूलोगे और न कोई चीज छोड़ोगे ही।

और यह उन लोगों के लिए सबसे अच्छा उत्तर है जो कहते हैं, "ओह! यदि कोई अच्छी तरह कार्य करना चाहता है तो उसे समय अवश्य मिलना चाहिये।" यह सच नहीं है। क्योंकि तुम चाहे जो कुछ करो—पढ़ना, खेलना, कार्य—बस, केवल एक ही समाधान है : एकाग्र होने की अपनी शक्ति को बढ़ाना। और जब तुम इस एकाग्रता को हासिल कर लेते हो तो वह फिर थकाने वाली नहीं होती। स्वभावतः ही, प्रारम्भ में, इसमें एक प्रकार का तनाव पैदा होता है, पर जब तुम इसके अभ्यस्त हो जाते हो तो तनाव कम हो जाता है, और एक समय ऐसा आता है जब तुम्हें इस प्रकार एकाग्र न होने के कारण, अपने-आपको छितरा देने के कारण, सभी प्रकार की चीजों का अपने को शिकार बन जाने देने के कारण तथा जो कुछ करना है उस पर एकाग्र न होने के कारण थकावट आती है।

मनुष्य एकाग्रता की शक्ति के द्वारा और अधिक अच्छी तरह तथा अधिक शीघ्रता से कार्य पूरा करने में सफल हो सकता है। इस प्रकार तुम कर्म का उपयोग विकास के साधन के रूप में कर सकते हो; अन्यथा तुम्हारी यह अस्पष्ट धारणा बनी रहेगी कि कर्म "निष्काम-भाव" से सम्पन्न करना चाहिये, परन्तु इसमें एक महान् खतरा है, क्योंकि मनुष्य बड़ी तेजी से उदासीनता को ही निष्काम-भाव मानने की भूल कर बैठता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १३९-४१

जब तुम काम करो उस समय यदि तुम एकाग्र हो सको तो तुम ठीक दस मिनट में उतना काम कर सकोगे जितने में अन्यथा एक घण्टा लग जाता। अगर तुम समय बचाना चाहो तो एकाग्र होना सीखो। ध्यान देकर काम करने से ही आदमी तेजी से काम कर सकता है और काम ज्यादा अच्छा भी होता है। अगर तुम्हारे पास आधे घण्टे का काम है—मैं यह नहीं कहती, निश्चय ही—कि यदि तुम्हें आध-घण्टा लिखना हो—नहीं, यदि तुम्हें सोचना हो और तुम्हारा मन इधर-उधर उड़ता फिर रहा हो, अगर तुम जो कुछ कर रहे हो उस पर ध्यान न देकर यह भी सोचो कि तुम क्या कर चुके हो, और क्या करने वाले हो, और इसी तरह और चीजें सोचते रहो, तो इन सबके कारण, काम में जितना समय लगना चाहिये उससे तिगुना समय नष्ट होता है। जब तुम्हारे पास बहुत अधिक काम हो तो तुम्हें, जो कर रहे हो, केवल उसी पर एकाग्र होने की आदत डालनी चाहिये। ध्यान देकर काम करने से जिस काम में एक घण्टा लग जाता वही काम दस मिनट में हो सकता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ५, पृ. ११८

... जीवन में तुम कुछ भी करना चाहो, एक चीज नितान्त अपरिहार्य है और **सबके** मूल में है, वह है ध्यान एकाग्र करने की क्षमता। यदि तुम एक बिन्दु पर ध्यान और चेतना की किरणों को केन्द्रित करने में सफल हो जाते हो और इस एकाग्रता को दृढ़ संकल्प द्वारा बनाये रख सकते हो तो **ऐसी कोई चीज नहीं** जो इसका प्रतिरोध कर सके—चाहे कुछ भी क्यों न हो, नितान्त जड़-भौतिक विकास से लेकर उच्चतम आध्यात्मिक विकास तक।

पर इस अनुशासन का पालन करना चाहिये निरन्तर, या यूं कहें, निर्विकार रहते हुए; यह नहीं कि हमेशा एक ही चीज पर एकाग्र रहना होगा—मेरा मतलब यह नहीं है, मेरा मतलब है एकाग्रता सीखने से।

भौतिक रूप में, अध्ययन, खेल-कूद, सब तरह के शारीरिक और मानसिक विकास के लिए यह नितान्त अपरिहार्य है। और मनुष्य का मूल्य उसके एकाग्र होने के गुण के अनुपात में पाया जाता है।

और आध्यात्मिक दृष्टि से तो इसका और भी अधिक महत्त्व है। **कोई भी** आध्यात्मिक बाधा ऐसी नहीं जो एकाग्रता की मर्मभेदी शक्ति का प्रतिरोध कर सके।

उदाहरण के लिए, चैत्य पुरुष का सन्धान, अन्तरस्थित भगवान् के साथ मिलन, उच्चतर प्रदेशों की ओर उन्मीलन, **सब** प्रगाढ़ और आग्रही एकाग्रता की शक्ति द्वारा उपलब्ध किये जा सकते हैं—लेकिन इसे करना सीखना होगा।

मानवीय क्षेत्र में, और अतिमानवीय तक में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसकी कुञ्जी एकाग्रता की शक्ति न हो।

इस क्षमता के साथ तुम श्रेष्ठ खिलाड़ी हो सकते हो, श्रेष्ठ विद्यार्थी हो सकते हो, कलाकार, साहित्यिक और वैज्ञानिक बन सकते हो, सबसे बड़े सन्त बन सकते हो। और प्रत्येक व्यक्ति में यह प्रारम्भ-बिन्दु के रूप में रहता है—यह सबको मिला हुआ है, पर वे इसे बढ़ाते नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३३२

मैं तुम सबमें द्वार खोलने के लिए पूरा ध्यान देती हूं, ताकि अगर तुम्हारे अन्दर एकाग्रता की जरा भी गति हो, तो तुम्हें ऐसे बन्द दरवाजे के सामने लम्बी अवधियों तक न ठहरना पड़े जो हिलता तक नहीं, जिसकी चाबी तुम्हारे पास नहीं है और जिसे तुम खोलना नहीं जानते।

दरवाजा खुला हुआ है, तुम्हें उस दिशा में देखना-भर होगा। तुम्हें उसकी ओर पीठ न करनी चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ७७-७८

'इच्छा' या 'संकल्प' की शक्ति

तुम्हारी प्रकृति में जो नहीं है उसे पाने के लिए, जिसे तुम अभी तक नहीं जानते उसे जानने के लिए, जिस काम को तुम अभी तक नहीं कर सकते उसे कर सकने के लिए तुम्हारे अन्दर अटल संकल्प होना चाहिये।

तुम्हें व्यक्तिगत कामना के अभाव से आने वाले प्रकाश और शान्ति में निरन्तर प्रगति करनी चाहिये।

अगर तुम्हारे अन्दर दृढ़ संकल्प है तो बस उसे दिशा देनी होगी; अगर तुम्हारे अन्दर संकल्प नहीं है तो पहले अपने अन्दर संकल्प का निर्माण करना होगा, जो हमेशा बहुत समय लेता है और कभी-कभी कठिन भी होता है।

हम सबसे अधिक सुन्दर विचारों के द्वारा भी प्रगति नहीं कर सकते अगर हमारे अन्दर यह निरन्तर संकल्प न हो कि वे विचार अधिक अच्छे अनुभवों, अधिक यथार्थ संवेदनाओं और अधिक अच्छी क्रियाओं के द्वारा हमारे अन्दर अभिव्यक्त हों।

मेरी निम्न प्रकृति वही मूर्खतापूर्ण चीजें करती चली जा रही है। केवल आप ही उसे बदल सकती हैं। 'आपकी' क्या शर्तें हैं?

१. पूरा-पूरा **विश्वास** होना चाहिये कि तुम **बदल सकते हो।**
२. निम्न प्रकृति के बहानों को अस्वीकार करते हुए बदलने का संकल्प बनाये रखना।
३. हर एक पतन के बावजूद संकल्प पर डटे रहना।
४. तुम्हें जो सहायता प्राप्त होती है उस पर अविचल श्रद्धा रखना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १६१

मधुर मां, हम अपने निश्चय को बहुत दृढ़ कैसे बना सकते हैं?

यह चाहने से कि वह बहुत दृढ़ हो! (हंसी)

नहीं, यह मजाक-सा लगता है... पर है एकदम सत्य। व्यक्ति सचमुच चाहता नहीं। हमेशा ही, अगर तुम... यह सच्चाई का, निष्कपटता का अभाव है। अगर तुम सच्चाई से देखो, तो यही पाओगे कि तुमने निश्चय कर लिया है कि यह ऐसा होगा, और तब, नीचे ही एक चीज है जिसने यह निश्चय बिलकुल नहीं किया है और वह ऊपर उछल आने के लिए क्षण-भर की हिचकिचाहट की प्रतीक्षा कर रही है। अगर तुम सच्चे हो, अगर तुम निष्कपट हो और उस भाग को पकड़ लो जो छिपा हुआ है, प्रतीक्षा में है, जो अपने-आपको दिखाता नहीं, जो यह जानता है कि अनिश्चय का एक ऐसा क्षण अब होगा जरूर, और तब वह बाहर झपट सकेगा और तुमसे वही चीज करवा लेगा जिसे न करने का तुमने निश्चय किया है...

लेकिन, अगर **सचमुच** तुम उसे चाहते हो, तो दुनिया की **कोई चीज** तुम्हें उस चीज को करने से नहीं रोक सकती जिसे तुम करना चाहते हो। यह इसलिए होता है कि तुम जानते नहीं कि संकल्प कैसे करना चाहिये। यह इसलिए होता है क्योंकि तुम अपनी इच्छा में **बंटे हुए** होते हो। अगर तुम अपनी इच्छा में बंटे हुए न हो तो मैं कहती हूं, दुनिया-भर में कोई चीज, कोई व्यक्ति तुमसे अपनी इच्छा नहीं बदलवा सकता।

लेकिन, तुम इच्छा या संकल्प करना ही नहीं जानते। तथ्य तो यह है कि तुम चाहते ही नहीं। ये छोटी-छोटी इच्छाएं हैं : "हां, तो ऐसा है...। अगर मैं ऐसा होता तो अच्छा रहता... हां, अगर ऐसा होता तो ज्यादा अच्छा रहता... हां, ऐसा होना ज्यादा अच्छा है...।" लेकिन **यह** संकल्प करना नहीं है। और हमेशा इसके पीछे कहीं, दिमाग के किसी कोने में से कोई चीज झांकती और कहती है : "मैं क्यों ऐसा चाहूं भला? आखिर, हम इसका उलटा भी चाह सकते हैं।" और फिर, कोशिश करना...। इस तरह नहीं, बस, प्रतीक्षा करो...। तुम हमेशा इससे उलटा करने के लिए हजारों बहाने निकाल सकते हो। और हां, बस जरा-सी हिचकिचाहट काफी है... फट्ट... चीज नीचे झपट पड़ती है, और लो खत्म।

लेकिन, अगर तुम **संकल्प करो,** अगर तुम सचमुच **जानो** कि **यही** चीज है, और सचमुच उसी को चाहो और अगर तुम **स्वयं** पूरी तरह से इस संकल्प पर एकाग्र होओ, तो मैं कहती हूं, दुनिया की **कोई भी चीज** तुम्हें उसे करने से न रोक सकेगी, उसे करने से या उसे करने के लिए

बाधित होने से। यह इस पर निर्भर करता है कि वह क्या है।

व्यक्ति चाहता है। हां, व्यक्ति चाहता है, इस तरह (संकेत)। व्यक्ति चाहता है : "हां, हां, अगर ऐसा हो तो ज्यादा अच्छा होगा। हां, यह ज्यादा सुन्दर होगा, ज्यादा शानदार होगा।" ... लेकिन, आखिर व्यक्ति एक दुर्बल प्राणी है, है न? और तब तुम हमेशा किसी और को दोष दे सकते हो : "हां, यह बाहर से आने वाला प्रभाव है, यह सब तरह की परिस्थितियों के कारण है।"

सांस गुजर गयी है। तुम नहीं जानते... कोई चीज... एक क्षण-भर की निश्चेतना... "ओह, मैं सचेतन नहीं था।" तुम सचेतन नहीं हो क्योंकि तुम स्वीकार नहीं करते...। और यह सब इसलिए कि तुम संकल्प करना नहीं जानते।

संकल्प करना सीखना बहुत जरूरी चीज है। और सचमुच संकल्प करने के लिए तुम्हें अपनी सत्ता को एक बनाना होगा। वास्तव में, एक सत्ता होने के लिए, पहले तुम्हें अपने-आपको एक करना चाहिये। अगर तुम एकदम विरोधी प्रवृत्तियों के द्वारा विरोधी दिशाओं में खींचे जाओ, अगर तुम अपने जीवन का तीन-चौथाई भाग अपने बारे में सचेतन हुए बिना, जो तुम करते हो उसका कारण जाने बिना बिताओ तो क्या तुम एक वास्तविक सत्ता हो? तब तुम्हारा अस्तित्व नहीं होता। तुम प्रभावों, गतिविधियों, शक्तियों, क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं की राशि होते हो, पर एक सत्ता नहीं होते। तुम सत्ता तब बनना शुरू करते हो जब तुम्हारे अन्दर संकल्प होना शुरू हो। और संकल्प तब तक नहीं हो सकता जब तक कि तुम एक न होओ।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३४०-४१

मां, हम अपने संकल्प को कैसे मजबूत बना सकते हैं?

ओह, जैसे तुम अपनी मांसपेशियों को मजबूत बनाते हो, विधिपूर्वक व्यायाम द्वारा। किसी एक छोटी-सी चीज को ले लो जिसे तुम करना चाहते हो या नहीं करना चाहते, किसी छोटी-सी चीज से शुरू करो, ऐसी चीज नहीं जो सत्ता के लिए बहुत जरूरी हो, छोटी-सी गौण चीज। और तब, उदाहरण

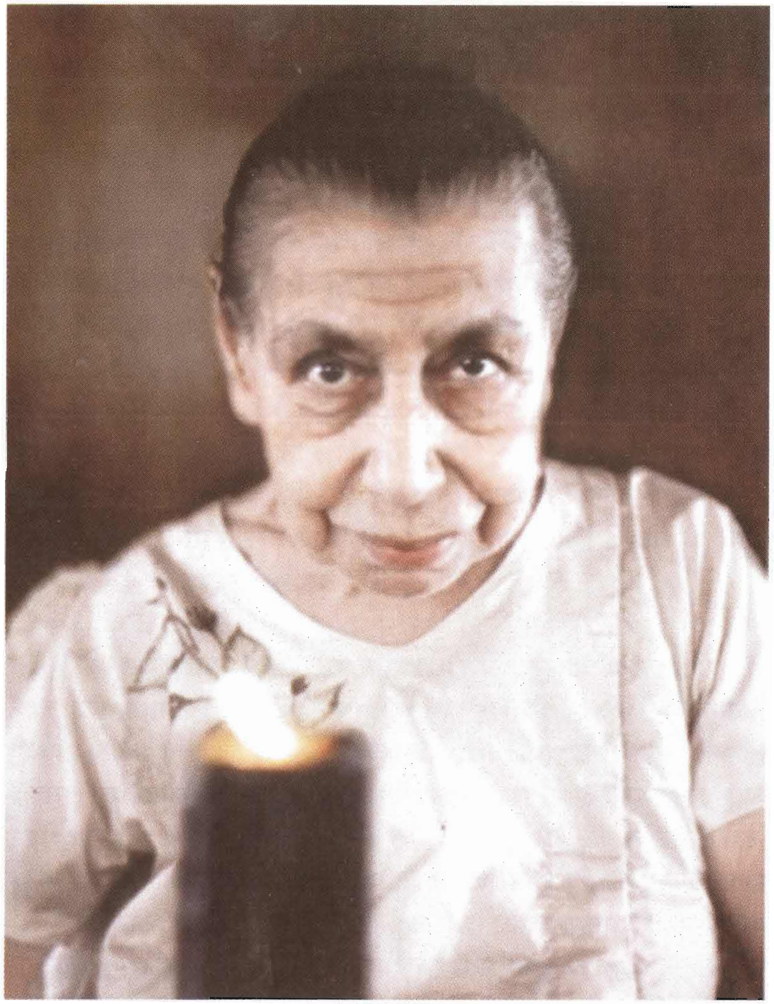

...एक अदृश्य सूर्य-ज्योति उसकी शिराओं में दौड़ती
और उसके मस्तिष्क को स्वर्गिक प्रतिमाओं से आप्लावित कर देती
जिसने एक विशालतर दृष्टिकोण जगा दिया
जो पृथ्वी पर अभी तक ज्ञात नहीं था।
('सावित्री' से) —श्रीअरविन्द

एक समर्थ महाप्राण अपनी आन्तरिक शक्तियों के साथ
हमारी इस बौनी लघुता को सहारा देता है
जिसे हम जीवन कह कर पुकारते हैं;
यह हमारे इस रेंगने पर दो शक्तिशाली पंख लगा सकता है।
('सावित्री' से) —श्रीअरविन्द

के लिए, वह कोई ऐसी चीज हो जिसे करने की तुम्हें आदत हो, तुम उसी नियमितता के साथ आग्रह करो—या तो उसे न करने का या उसे करने का—तुम उस पर आग्रह करो और अपने-आपको वह करने के लिए बाधित करो जैसे तुम भार उठाने के लिए अपने-आपको बाधित करते हो। दोनों एक ही हैं। तुम उसी प्रकार का प्रयास करते हो, पर यह प्रयास आन्तरिक अधिक है। इस तरह छोटी-छोटी चीजें लेने के बाद, जो अपेक्षाकृत आसान हों, उन्हें लेकर उनमें सफल होने के बाद, तुम एक ज्यादा बड़ी शक्ति के साथ एक होकर, ज्यादा जटिल परीक्षण कर सकते हो। और धीरे-धीरे, यदि तुम नियमित रूप से करते रहो तो अन्त में तुम एक स्वतन्त्र और बहुत सशक्त संकल्प प्राप्त कर लोगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३८३

मधुर मां, इच्छा करने (willing) और कामना करने (desiring) में क्या फर्क है?

वे दोनों एक ही चीज बिलकुल नहीं हैं। जब तुम देखते हो कि कोई चीज की जानी चाहिये, उदाहरण के लिए, तुम्हें लगे कि यह करना अच्छा है —अपनी तर्कबुद्धि की बात लो : तुम्हारी तर्कबुद्धि निश्चय करती है कि यह करना चाहिये, तो तुम्हारी इच्छा काम करना शुरू करती है, और तुमसे वह सब करवाती है जो इसके लिए जरूरी है। तुम्हारी इच्छा एक कार्यकारी शक्ति है जिसे तर्कबुद्धि या किसी उच्चतर शक्ति की सेवा में रहना चाहिये। यह एक समन्वित और व्यवस्थित चीज है जो एक योजना के अनुसार पूर्णतः नियन्त्रित ढंग से यथार्थ रूप में काम करती है।

कामना एक आवेग है। वह तुम्हें पकड़ लेती है... यह जरूरी नहीं है कि वह तुम्हें किसी सचेतन विचार के साथ पकड़ती हो। यह एक ऐसा आवेग है जो तुम्हें किसी चीज पर अधिकार करने के लिए धकेलता है। तुम अपनी इच्छा को कामना की सेवा में लगा सकते हो, पर कामना इच्छा नहीं है। कामना एक आवेग है। ऐसे लोग होते हैं जो कामना से भरे होते हैं पर उनमें इच्छा नहीं होती। तो हम कह सकते हैं कि कामनाएं उन्हें खा डालती हैं; पर इससे कुछ नहीं होता, क्योंकि उनमें कामनाओं को पूरा

करने की इच्छा तक नहीं होती। अधिकतर लोग उनके पास जो थोड़ी बहुत इच्छा-शक्ति होती है उसे अपनी कामना की सेवा में लगा देते हैं।

लेकिन इच्छा एक शक्ति है जिसमें व्यवस्था करने की क्षमता होती है और उसे जिस किसी उद्देश्य के लिए काम में लाया जा सकता है। जब तुम्हारे अन्दर इच्छा-शक्ति हो, किसी निश्चित उद्देश्य के लिए—यह है इच्छा या संकल्प-शक्ति। तुम्हें कामना को इच्छा न समझ लेना चाहिये। कामना एक आवेग है : वह तुम्हें पकड़ लेती है, जकड़ लेती है, तुमसे चिपक जाती है। और फिर, अगर तुम कामना को अपनी मरजी के अनुसार करने दो, तो वह तुमसे कुछ भी करवा लेती है, और वह तुम्हारी इच्छा का उपयोग करती है। लेकिन कामना, साधारणतः उग्र, आवेगमय और कुछ समय के लिए होती है। ऐसा बहुत कम होता है कि वह लम्बे समय तक रहे; उसके अन्दर सतत प्रयास के लिए न तो उपादान होता है, न व्यवस्था। जब कोई कामना तुम्हें आ पकड़ती है, तो वह तुमसे कुछ भी करवा सकती है—लेकिन करवायेगी आवेग में, किसी पद्धति के अनुसार नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४००-०१

साधारण तौर पर "संकल्प" शब्द उस चीज को सूचित करने के लिए सुरक्षित रखा जाता है जो गभीरतर सत्ता से या उच्चतर सद्वस्तु से और उस वस्तु से आती है जो कर्म के अन्दर सच्चे ज्ञान को अभिव्यक्त करती है... अतएव, जब सच्चे ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाला यह संकल्प कर्म में व्यक्त होता है, यह एक गभीर और **प्रत्यक्ष** शक्ति-सामर्थ्य के हस्तक्षेप के द्वारा व्यक्त होता है जिसमें किसी भी प्रयास की कोई आवश्यकता नहीं होती।...

बाहरी सत्ता में कार्य करने वाला सत्य-ज्ञान ही सच्ची शक्ति प्रदान करता है।

यह उस बहुत प्रचलित कहावत की एक व्याख्या, सच्ची व्याख्या प्रतीत होता है जो अपने सार-रूप में नहीं समझी गयी है पर जो एक सत्य को प्रकट करती है, और वह है : "जहां चाह वहां राह", इच्छा करने का मतलब है शक्ति पाना। यह बिलकुल स्पष्ट है कि इच्छा का यह संकेत

"इच्छाओं" की ओर, अर्थात् कामनाओं की कम या अधिक असंगत अभिव्यक्ति की ओर नहीं है, बल्कि सच्चे ज्ञान को प्रकट करने वाली सच्ची इच्छा की ओर है; कारण, यह सच्ची इच्छा स्वयं अपने अन्दर सत्य की शक्ति को वहन करती है जो बल-सामर्थ्य—एक अजेय बल-सामर्थ्य प्रदान करती है। और इसलिए जब कोई "इच्छाओं" को, जीवन में उनका उपयोग करने में सक्षम होने तथा उन्हें फलदायी बनाने के लिए, व्यक्त करता है तो प्रयास का हस्तक्षेप आवश्यक होता है—व्यक्तिगत प्रयास के बल पर ही मनुष्य प्रगति करता है, और वास्तव में प्रयत्न के द्वारा ही वह अपनी इच्छाओं को जीवन पर लादता है ताकि वह उनकी मांगों के सामने सिर झुकाये—परन्तु जब वे इच्छाएं नहीं रह जातीं, जब सत्य-ज्ञान का प्रकाशक सच्चा संकल्प वहां होता है, तब फिर प्रयत्न की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि शक्ति सर्व-समर्थ होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३७४-७५

मां, "आन्तरिक तपस्या" का ठीक-ठीक अर्थ क्या है?

आन्तरिक तपस्या? इसका मतलब है चरित्र के लिए, सत्ता की मनोवैज्ञानिक गतिविधि को बदलने के लिए, यथार्थतः कामनाओं को जीतने के लिए, आवेगों को जीतने के लिए, अहंकार पर विजय पाने के लिए, भयों से पिण्ड छुड़ाने के लिए की गयी तपस्या। यही आन्तरिक तपस्या है।

बाह्य तपस्या है, संन्यासियों या हठयोगियों की तपस्या; योग के लिए बाह्य साधनों का उपयोग करना बाह्य तपस्या है। लेकिन आन्तरिक तपस्या में अपने चरित्र पर ध्यान दिया जाता है और उसे बदलने की कोशिश की जाती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ४००

एकाग्रता के बिना व्यक्ति कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकता।

—श्रीमां

कल्पना की शक्ति

कल्पना वास्तव में मानसिक रचनाएं बनाने की शक्ति है। जब यह शक्ति भगवान् की सेवा में लगायी जाती है तो यह केवल रचनाएं ही नहीं बनाती, बल्कि सृजन भी करती है। और अवास्तविक रचना जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकृति मानसिक स्तर पर एक सत्य ही होती है। उदाहरणार्थ, एक उपन्यास का सारा कथानक मानसिक स्तर पर भौतिक स्तर से स्वतन्त्र रूप में विद्यमान रहता है।

हममें से हर एक कुछ हद तक उपन्यासकार है और उसमें मानसिक स्तर पर आकार बनाने की क्षमता है; वास्तव में, हमारे जीवन का बहुत-सा भाग हमारी कल्पना-सृष्टि का ही मूर्त रूप होता है। हर बार जब तुम किसी अस्वस्थ कल्पना में रस लेते हो, अपने भयों की रूप-रेखा बनाते हो, दुर्घटनाओं और विपत्तियों की आशंका करते हो, तब तुम अपने भावी विनाश के लिए खाई खोदते हो।

इसके विपरीत, तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक आशापूर्ण होगी, अपने लक्ष्य को पूरा करना तुम्हारे लिए उतना ही अधिक सम्भव होगा। कूए महोदय को इस शक्तिशाली सत्य का ज्ञान हो गया था और उन्होंने सैकड़ों लोगों को केवल यह सिखा कर अच्छा कर दिया कि वे अपनी कष्ट से मुक्त स्थिति की कल्पना करें। एक बार उन्होंने एक स्त्री की घटना सुनायी थी जिसके बाल झड़ते जा रहे थे। उसने अपने-आपको सुझाव देना शुरू किया कि मैं दिन-पर-दिन अच्छी हो रही हूं और मेरे बाल निश्चय ही बढ़ रहे हैं। लगातार ऐसी कल्पना करने से उसके बाल सचमुच बढ़ने लगे, यहां तक कि अधिक आत्म-प्रेरणा से वह जितना चाहती थी उतने लम्बे हो गये।

मानसिक रचनाएं बनाने की शक्ति योग में भी अत्यन्त उपयोगी है; जब भगवत्संकल्प के साथ मन का सम्पर्क स्थापित हो जाता है, अतिमानसिक 'सत्य' मन और उच्चतम 'प्रकाश' के मध्यवर्ती स्तरों के द्वारा अवतरित होने लगता है और यदि मन में पहुंच कर यह उसके अन्दर रचनाएं बनाने की शक्ति देखता है तो यह सहज ही मूर्त रूप धारण कर लेता है और तुम्हारे अन्दर सर्जनशील शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है।

इसीलिए मैं तुमसे कहती हूं कि उदास और निराश मत होओ; बल्कि

ऐसा करो कि तुम्हारी कल्पना सदा आशापूर्ण और उच्चतर 'सत्य' के दबाव के प्रति सहर्ष नमनशील रहे, जिससे वह 'सत्य' जब आये तब तुम्हें उन रचनाओं से परिपूर्ण पाये जो उसके सर्जनकारी प्रकाश को धारण करने के लिए आवश्यक हैं।

कल्पना एक चाकू के समान है जो अच्छे या बुरे कामों के लिए बरता जा सकता है। यदि तुम सदा इस विचार और भाव में निवास करो कि तुम्हारा रूपान्तर होने वाला है तो इससे तुम योग की प्रक्रिया में सहायक होगे। इसके विपरीत, यदि तुम उदास हो जाते हो और यह रोना रोते हो कि तुम योग्य नहीं हो अथवा तुम उपलब्धि को प्राप्त करने में असमर्थ हो, तो तुम अपनी सत्ता को विष से भरते रहते हो। इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सत्य को ध्यान में रख कर ही मैं यह कहते कभी नहीं थकती कि चाहे कुछ भी हो जाये, तुम, उदास कभी मत होओ, बल्कि इस अटूट आशा और विश्वास में निवास करो कि जो कार्य हम कर रहे हैं वह सफल होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १४९-५०

क्या काल्पनिक कहानियों का कोई मूल्य नहीं होता?

यह निर्भर करता है कल्पना के स्वरूप पर। यदि तुम यह कहो कि अपनी कल्पना-शक्ति को विकसित करना एक अच्छी बात है तो यह सच है, केवल तुम्हें इस बात के लिए सावधान रहना होगा कि कहीं तुम असत्य कल्पना न विकसित कर लो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ४, पृ. १५७

कल्पना का कार्य, उसका उपयोग क्या है?

जैसा कि मैंने कहा, अगर तुम उसका उपयोग करना जानो, तो तुम अपने लिए अपना ही आन्तरिक और बाह्य जीवन बना सकते हो; तुम अपनी कल्पना द्वारा अपना अस्तित्व बना सकते हो, यदि तुम उसका उपयोग करना जानो और तुम्हारे अन्दर शक्ति हो। वास्तव में यह सर्जन करने का, दुनिया में चीजों को आकार देने का प्रारम्भिक तरीका है। मुझे हमेशा ऐसा

लगता है कि अगर तुम्हारे अन्दर कल्पना की क्षमता न हो तो तुम कोई प्रगति नहीं कर सकते। तुम्हारी कल्पना हमेशा तुम्हारे जीवन के आगे बढ़ती है। जब तुम अपने बारे में सोचते हो, तो प्रायः तुम यह कल्पना करते हो कि तुम क्या बनना चाहते हो, है न, और यह चीज आगे बढ़ती है, फिर तुम अनुसरण करते हो, फिर वह आगे बढ़ती जाती है और तुम पीछे-पीछे चलते जाते हो। कल्पना तुम्हारे लिए उपलब्धि का मार्ग खोल देती है। जो लोग कल्पनाशील नहीं हैं—उन्हें आगे बढ़ाना बहुत मुश्किल होता है; वे बस उतना ही देखते हैं जो उनकी नाक की सीध में हो, वे बस वही अनुभव करते हैं जो वे क्षण-क्षण होते हैं और वे आगे नहीं बढ़ सकते क्योंकि वे तात्कालिक चीज से जकड़े रहते हैं। बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि तुम कल्पना कहते किसे हो।...

वैज्ञानिकों में कल्पना जरूर होगी!

बहुत। अन्यथा वे कभी किसी भी चीज की खोज न कर पायेंगे। वस्तुतः, जिसे कल्पना कहते हैं वह अपने-आपको उपलब्ध वस्तु से बाहर, उपलब्ध की जा सकने वाली चीजों की ओर प्रक्षिप्त करने की क्षमता है, और फिर प्रक्षेपण के द्वारा उन्हें खींच लेना है। स्पष्ट है कि तुम्हारे अन्दर प्रगतिशील और अधोगामी कल्पनाएं होती हैं। ऐसे लोग हैं जो हमेशा सभी सम्भव अनर्थों की कल्पना करते हैं, और दुर्भाग्यवश उनके पास उन्हें लाने की शक्ति भी होती है। वह एक प्रकार का ऐण्टिना है जो किसी ऐसे जगत् में जाता है जिसका अभी तक अनुभव नहीं किया गया है, वह वहां से किसी चीज को पकड़ कर यहां खींच लाता है। तब स्वभावतः पृथ्वी के वातावरण में यह एक वृद्धि होती है और ये चीजें अभिव्यक्ति की ओर मुड़ती हैं। यह एक ऐसा यन्त्र है जिसे अनुशासन में रखा जा सकता है, मर्जी के अनुसार जिसका उपयोग किया जा सकता है; व्यक्ति उसे अनुशासन में रख सकता है, उसका निर्देशन कर सकता है, उसे निश्चित दिशा दे सकता है। यह एक ऐसी योग्यता है जिसे व्यक्ति अपने अन्दर विकसित कर सकता है और उसे उपयोगी बना सकता है, यानी, उसका उपयोग निश्चित अभिप्राय के लिए कर सकता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २२४-२५

... हमारे अन्दर होनी चाहिये एक सुस्पष्ट कल्पनात्मक शक्ति, क्योंकि —ऐसा लगता है कि मैं तुमसे मूर्खतापूर्ण बातें कर रही हूं, पर यह बिलकुल सही है—एक ऐसा जगत् है जिसमें तुम सर्वोच्च रूप-स्रष्टा होते हो : वह है तुम्हारा अपना ही विशिष्ट प्राणमय जगत्। तुम वहां सर्वोच्च निर्माता होते हो और, यदि तुम्हें पता हो कि उसका उपयोग कैसे किया जाता है तो तुम अपना एक अद्भुत जगत् बना सकते हो। यदि तुम्हारे अन्दर एक कलात्मक या कविसुलभ चेतना हो, यदि तुम्हें सामञ्जस्य, सौन्दर्य से प्रेम हो, तुम वहां एक आश्चर्यजनक वस्तु का निर्माण कर लोगे जो भौतिक अभिव्यक्ति के अन्दर उतर आने की कोशिश करेगी।

जब मैं छोटी बच्ची थी, मैं इसे "अपने-आपको कहानी सुनाना" कहा करती थी। यह अपने मस्तिष्क में, शब्दों के द्वारा कुछ कहना बिलकुल नहीं है : यह उस स्थान पर चले जाना है जो तरोताजा और शुद्ध है, और... वहां एक अद्भुत कहानी का निर्माण करना है। और यदि तुम्हें पता हो कि इस तरीके से अपने-आपको कोई कहानी कैसे सुनायी जाती है, और वह वास्तव में सुन्दर, वास्तव में सुसमञ्जस, वास्तव में शक्तिशाली और अच्छी तरह सुव्यवस्थित हो तो यह कहानी तुम्हारे जीवन में संसिद्ध हो सकती है—शायद ठीक उसी रूप में नहीं जिसमें तुमने उसकी सृष्टि की थी, पर जो कुछ तुमने बनाया था उसकी कम या अधिक परिवर्तित भौतिक अभिव्यक्ति के रूप में संसिद्ध हो सकती है।

इसमें सम्भवतः वर्षों लग सकते हैं; परन्तु तुम्हारी कहानी तुम्हारे जीवन को सुसंगठित करने में प्रवृत्त रहेगी।

परन्तु बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो यह जानते हैं कि कोई सुन्दर कहानी कैसे सुनायी जाती है; और फिर वे उसमें सर्वदा भयावह वस्तुओं को मिला देते हैं जिनके लिए बाद में पछताते हैं।

यदि कोई एक उत्तम कहानी की सृष्टि कर सके और उसमें कोई भी भयावह वस्तु न मिलाये, सौन्दर्य के सिवा उसमें और कुछ न हो तो प्रत्येक के जीवन पर उस कहानी का **बहुत अधिक** प्रभाव पड़ेगा। और यही बात है जिसे लोग नहीं जानते।

यदि व्यक्ति को यह पता हो कि प्राणमय रूपों के इस जगत् में इस शक्ति का, इस सृजनात्मिका शक्ति का उपयोग कैसे किया जाता है, जब

मनुष्य अभी एक बच्चा, एक बहुत नन्हा बच्चा होता है तभी उसे यह ज्ञात हो कि इसका प्रयोग कैसे किया जाता है... क्योंकि सचमुच तभी अपना बचपन में ही—व्यक्ति अपनी भौतिक भवितव्यता का निर्माण करता है। परन्तु सामान्यतया, जो लोग तुम्हारे इर्द-गिर्द रहते हैं, कभी-कभी तुम्हारे अपने छोटे-छोटे मित्र तक, पर सबसे अधिक माता-पिता और अध्यापक इसमें हस्तक्षेप करते हैं और तुम्हारे लिए सब कुछ बर्बाद कर देते हैं, इतनी अच्छी तरह बर्बाद कर देते हैं कि ऐसा बहुत कम ही होता है कि वह चीज पूर्ण रूप से सफल हो पाये।

अन्यथा, यदि उसे उस ढंग से, एक बच्चे की सहज-स्वाभाविक सरलता के साथ किया जाये तो तुम अपने लिए एक आश्चर्यजनक जीवन का संगठन कर सकते हो—मैं भौतिक जगत् की बात कह रही हूं।

बचपन के सपने प्रौढ़ावस्था के यथार्थ सत्य होते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १२४-२६

कल्पना निर्माण की शक्ति है। असल में, जिनमें कल्पना नहीं होती वे मानसिक दृष्टिकोण से निर्माता नहीं होते, वे अपने विचार को ठोस शक्ति नहीं दे सकते। कल्पना कर्म का एक बहुत ही शक्तिशाली साधन है। उदाहरणार्थ, यदि तुम्हारे कहीं दर्द हो रहा हो और तुम यह कल्पना कर सको कि तुम उसका लोप किये दे रहे हो या उसे दूर हटा रहे हो या नष्ट कर रहे हो—ऐसी सब तरह की कल्पनाएं—तो बहुत अच्छी तरह सफल होते हो। एक महिला की कहानी है कि उसके बाल बहुत तेजी से झड़ रहे थे, इतने कि कुछ ही हफ्तों में वह गंजी हो जाती। तब किसी ने उससे कहा : "जब तुम कंघी करो तो यह कल्पना करो कि ये बढ़ रहे हैं, और बड़ी तेजी से बढ़ रहे हैं।" और हर बार कंघी करते समय वह कहती : "ओह! मेरे बाल बढ़ रहे हैं! ये बड़ी तेजी से बढ़ेंगे!..."—और ऐसा ही हुआ! जब कि, सामान्यतया, लोग करते यह हैं कि वे अपने-आपसे कहते हैं : "आह, फिर से मेरे बाल झड़ने शुरू हो गये, अब मैं गंजा हो जाऊंगा, यह निश्चित है, यह जरूर होगा!"

स्पष्ट है कि ऐसा ही होता है!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३५०

भावनात्मक सन्तुलन की शक्ति

सामाजिक सम्बन्धों में एक बड़ी कमजोरी होती है, एक **बहुत** बड़ी कमजोरी; और इसीलिए, वास्तव में, व्यक्ति नाराज हो उठता है, उसमें बह जाता है और ऐसी चीजें कहता है जो नहीं कहनी चाहियें। अगर व्यक्ति कमजोर न हो तो वह कभी उग्र न होगा। कमजोरी और उग्रता या हिंसा ऐसी चीजें हैं जो हमेशा साथ-साथ चलती हैं। जो सचमुच बलवान् है वह कभी उग्र नहीं होता। यह ऐसी बात है जिसे हमेशा याद रखना चाहिये। उग्रता या हिंसा **हमेशा** कहीं पर कमजोरी का लक्षण है। हां, तुम देखते हो कि उभरी हुई मांसपेशियोंवाला एक व्यक्ति जो बहुत मजबूत है, एक दूसरे व्यक्ति को अपनी पूरी शक्ति से गिरा देता है और लोग कहते हैं : "वह मजबूत है!" यह सच नहीं है। उसमें मांसपेशियां हैं पर नैतिक दृष्टि से वह बहुत कमजोर है। वह एक जगह मजबूत और दूसरी जगह कमजोर हो सकता है। साधारणतः ऐसा ही होता है।

लेकिन मैं कहती हूं, और जिन लोगों ने जानवरों का अवलोकन किया है वे भी कहते हैं कि, उदाहरण के लिए, जो जानवर बहुत मजबूत होते हैं, वे बड़े शान्त होते हैं। स्वभावतः, जब वे शिकार का पीछा करते हैं तो अपनी सारी ऊर्जा लगा देते हैं; परन्तु यह उग्रता या हिंसा नहीं, ऊर्जा है। लेकिन अगर तुमने कभी सिंह को ऐसी अवस्था में देखा है—जब उसे कुछ भी न करना हो, तब वह जरा भी नहीं चुलबुलाता। अगर वह बीमार हो तो वह बेचैन होता है। लेकिन अगर वह भला-चंगा हो, स्वस्थ हो, अगर उसे कुछ करना न हो तो वह हिलेगा भी नहीं, वह बिलकुल अचञ्चल होगा। वह एक सन्त जैसा दीखेगा। (*हंसी*)

बेचैनी, उग्रता, क्रोध, ये सभी चीजें हमेशा, बिना अपवाद के, दुर्बलता की सूचक हैं। और विशेष रूप से, जब व्यक्ति अपनी भाषा में बह जाता है और ऐसी चीजें कहता है जो नहीं कहनी चाहियें तो **यह** निश्चय ही भयंकर मानसिक दुर्बलता का चिह्न है—मानसिक और प्राणिक—भयंकर। अन्यथा, तुम दुनिया-भर की गाली-गलौज सुन सकते हो, लोग तुमसे सब तरह की बेवकूफी-भरी बातें कह सकते हैं; अगर तुम कमजोर नहीं हो तो शायद तुम बाहर से न भी मुस्कुराओ, क्योंकि मुस्कुराना हमेशा सुरुचिपूर्ण

नहीं होता, लेकिन अपने अन्दर की गहराई में तुम मुस्कुराते रहोगे और उसे गुजर जाने दोगे, वह तुम्हें छू तक न पायेगी...। अगर तुम्हारे मन ने, जैसा यहां कहा गया है, वैसा शान्त-स्थिर होने की आदत डाल ली है, और तुम्हें अपने अन्दर सत्य का बोध प्राप्त है, तो तुम कुछ भी सुन सकते हो। उससे स्पन्दन जैसी कोई भी चीज नहीं पैदा होती—तुम्हारे अन्दर सब कुछ अचञ्चल, स्थिर, शान्त रहता है। और तब अगर वह साक्षी वहां हो, जिसकी हम थोड़ी देर पहले बात कर रहे थे, और इस हास्यजनक स्थिति को देख रहा हो, तो वह निश्चय ही मुस्कुराता है।

लेकिन अगर तुम उस दूसरे व्यक्ति से आते हुए स्पन्दनों का अनुभव करो जो तुम्हारे अन्दर अपना समस्त क्रोध और उग्रता फेंक रहा है, अगर तुम उसे अनुभव करो... शुरू में ऐसा होता है... और फिर, तुम्हारे अन्दर से अचानक प्रत्युत्तर उठता है; और फिर, यदि तुम स्वयं क्रुद्ध हो उठते हो तो विश्वास रखो, तुम भी उसी की तरह कमजोर हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३६५-६६

कोई व्यक्ति आकर तुम्हारा अपमान करता है अथवा तुमसे कोई अप्रिय बात कहता है; और यदि तुम क्रोध या दुर्भावना के साथ एक होकर कांपना आरम्भ कर दो तो तुम अपने को बिलकुल दुर्बल और शक्तिहीन अनुभव करोगे और इस प्रकार साधारणतया मनुष्य अपने को मूर्ख ही साबित करता है। परन्तु तुम यदि अपने अन्दर, और विशेषकर अपने मस्तक में, ऐसी पूर्ण अचलता बनाये रखने में सफल हो जाओ जो इन प्रकम्पनों को ग्रहण करना अस्वीकार करती है, तो फिर उसी समय तुम एक महान् शक्ति का अनुभव करने लगते हो और तब दूसरा व्यक्ति तुम्हें परेशान नहीं कर सकता। यदि तुम बहुत ही शान्त-स्थिर बने रहो, यहां तक कि शरीर से भी, और जब तुम्हारे विरुद्ध कोई बल का प्रयोग करे तब भी तुम बहुत स्थिर, बहुत नीरव, एकदम अचल-अटल बने रह सको तो हां, उसमें एक ऐसी शक्ति होती है जो न केवल तुम्हारे ऊपर बल्कि दूसरे व्यक्ति के ऊपर भी प्रभाव डालती है। यदि तुम्हारे अन्दर आन्तरिक प्रत्युत्तर के ये सब प्रकम्पन न हों, यदि तुम अपने अन्दर, सर्वत्र, पूर्ण रूप से अचल-अटल बने रह सको तो दूसरे व्यक्ति के ऊपर उसकी तत्काल

क्रिया होती है।

यह चीज तुम्हें अचलता की शक्ति का अन्दाजा देती है और यह एक बहुत आम तथ्य है जो हर रोज घट सकता है। यह कोई आध्यात्मिक जीवन की महान् घटना नहीं है, यह महज बाहरी, भौतिक जीवन की एक चीज है।

अचलता में एक प्रचण्ड शक्ति होती है : वह चाहे मानसिक अचलता, ऐन्द्रिय अचलता या भौतिक अचलता ही क्यों न हो। यदि तुम एक दीवार की तरह बन सको, सम्पूर्ण रूप से गतिहीन, तो जो कुछ भी दूसरा व्यक्ति तुम्हारी ओर भेजेगा वह तत्काल उसी के ऊपर वापस जा गिरेगी। और उसकी क्रिया तत्काल होती है। यह अचलता हत्यारे के हथियार को भी रोक सकती है, समझ रहे हो न, उसमें इतनी अधिक शक्ति होती है। बस, बात यह है कि तुम्हें ऐसा नहीं होना चाहिये कि ऊपर से तो अचञ्चल दिखलायी दो और अन्दर से खौलते रहो! मेरा मतलब उससे नहीं है। मेरा मतलब है पूर्ण अचलता से।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ७१-७२

किसी "अनुभूति के नकारात्मक पक्ष" और "सकारात्मक पक्ष" का क्या अर्थ है?

आह, मेरे बच्चे, तुम्हारे अन्दर कुछ दोष होते हैं, है न, ऐसी चीजें जो प्रगति करने में बाधा देती हैं। तो, नकारात्मक पक्ष है कोशिश करके उन दोषों से पिण्ड छुड़ाना। कुछ ऐसी चीजें हैं, तुम्हें कुछ होना, कुछ बनना चाहिये, ऐसे गुण जिन्हें चरितार्थ करने के लिए तुम्हें अपने अन्दर गढ़ना है; गढ़ने का यह पक्ष सकारात्मक पक्ष होता है।

तुम्हारे अन्दर कोई दोष है, उदाहरण के लिए, सच न बोलने की वृत्ति है। अब, मिथ्यात्व की इस आदत से, सत्य को न देखने और सत्य न बोलने की आदत से, तुम अपनी चेतना से मिथ्यात्व के बहिष्कार द्वारा, लड़ते हो और सत्य न बोलने की उस आदत को निकाल बाहर करने की कोशिश करते हो। इस चीज को बनाये रखने के लिए, तुम्हें अपने अन्दर केवल सच बोलने की आँदत डालनी चाहिये। इस चीज को बनाये रखने

के लिए, तुम्हें अपने अन्दर सच को देखने और हमेशा सच बोलने की आदत डालनी चाहिये। एक नकारात्मक है : तुम दोष को दूर करते हो। दूसरी सकारात्मक है : तुम गुण की स्थापना करते हो। यह इस तरह है।

सभी चीजों के लिए यही बात है। उदाहरण के लिए, तुम्हारी सत्ता के किसी भाग में एक तरह के विद्रोह की आदत होती है, अज्ञान गर्वित, अन्धकारमय विद्रोह की, ऊपर से जो कुछ आता है उसे अस्वीकारने की आदत होती है। अतः, नकारात्मक पक्ष है उसके विरुद्ध लड़ना, उसे अभिव्यक्त होने से रोकना और अपने स्वभाव से उसे दूर फेंकना; और दूसरी तरफ तुम्हें निश्चित रूप से समर्पण, अवबोधन, उत्सर्ग, आत्मसमर्पण और भागवत शक्तियों के साथ पूर्ण सहयोग के भाव की स्थापना करनी चाहिये। यह सकारात्मक पक्ष है। तुम समझ रहे हो?

वही बात फिर से : ऐसे व्यक्ति होते हैं जो क्रुद्ध हो जाते हैं... जिन्हें क्रोध के ताव आते हैं, जिन्हें गुस्से की आदत होती है... व्यक्ति उस आदत के विरुद्ध लड़ता है, वह क्रुद्ध होना अस्वीकार कर देता है, अपनी सत्ता से क्रोध के उन स्पन्दनों को निकाल बाहर करता है, लेकिन इसके स्थान पर आनी चाहिये निर्विकार शान्ति, पूर्ण सहिष्णुता, दूसरों के दृष्टिकोण की समझ, स्पष्ट और शान्त दृष्टि, शान्त निर्णय—यह सकारात्मक पक्ष है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १९८ ९९

कारण, मानव-प्रकृति इतनी सीमित, विरोधों से इतनी भरी हुई है और अपनी क्रियाओं में इतनी अनन्य है कि अगर कोई प्रेम को, उसके निम्नतर रूप अर्थात् मानव-प्रेम को, जैसा कि लोग उसे अनुभव करते हैं, त्यागना चाहे, यदि उसे त्यागने का आन्तरिक प्रयत्न करे तो साधारणतः वह प्रेम को अनुभव करने की सारी क्षमता को ही खो बैठता है और पत्थर जैसा बन जाता है। और तब कभी-कभी अपने अन्दर प्रेम को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने की क्षमता को फिर से जगाने के लिए उसे वर्षों या शताब्दियों तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है।

अतः, सर्वोत्तम पथ यह है कि जब प्रेम आये, चाहे जिस किसी रूप में वह आये, उसे भेदने की कोशिश की जाये और उसके बाह्य रूप को

भेद कर उस दिव्य तत्त्व को खोजा जाये जो उसके पीछे है और जिसके कारण उसका अस्तित्व है। स्वाभाविक है कि यह मोहपाशों और कठिनाइयों से भरा हुआ है, पर यह है अधिक फलदायी। यानी, प्रेम करना बन्द करने के स्थान पर, चूंकि मनुष्य गलत रूप में प्रेम करता है, उसे गलत रूप में प्रेम करना बन्द करना होगा और अच्छे ढंग से प्रेम करने की इच्छा करनी होगी।

उदाहरणार्थ, मानव सत्ताओं के बीच का प्रेम, अपने सभी रूपों में, अपने बच्चों के लिए माता-पिता का, माता-पिता के प्रति बच्चों का, भाइयों और बहनों का, मित्रों और प्रेमियों का प्रेम पूरी तरह अज्ञान, स्वार्थपरता और दूसरे दोषों से, जो मनुष्य की सामान्य कमियां हैं, दूषित होता है; अतएव, पूरी तरह प्रेम करना बन्द कर देने की जगह—जो बहुत कठिन भी है, जैसा कि श्रीअरविन्द कहते हैं, जो मात्र हृदय को सुखा देगा और उससे कोई लाभ भी नहीं होगा—हमें यह सीखना होगा कि किस प्रकार अधिक अच्छे रूप में प्रेम किया जाये : भक्ति के साथ, आत्म-दान, आत्म-त्याग के साथ प्रेम करना, और संघर्ष करना, स्वयं प्रेम के विरुद्ध नहीं, बल्कि उसके विकृत रूपों के विरुद्ध : स्वयं अपने लिए ही झपटने के विरुद्ध, आसक्ति, अधिकार, ईर्ष्या के सभी रूपों के विरुद्ध, और समस्त भावनाओं के विरुद्ध, जो इन मुख्य वस्तुओं के साथ लगी रहती हैं। अधिकार करने और आधिपत्य जमाने की कामना न करना; और अपनी इच्छा, अपनी सनकें और अपनी कामनाएं लादने की चाह न करना; लेने की, पाने की इच्छा नहीं, बल्कि देने की इच्छा करना : दूसरे के प्रत्युत्तर पर आग्रह न करना, बल्कि अपने निजी प्रेम से ही सन्तुष्ट रहना; अपने व्यक्तिगत स्वार्थ और सुख की तथा अपनी व्यक्तिगत कामना की पूर्ति की चेष्टा न करना, बल्कि अपना प्रेम और स्नेह देने से ही तृप्त रहना; और प्रत्युत्तर की मांग न करना। मात्र प्रेम करने से ही प्रसन्न रहना, उससे अधिक कुछ नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ३१५

हां तो, विशुद्ध बाह्य दृष्टि से भी यदि कोई व्यक्ति ऐसी अवस्था में हो कि उसके अंगों की क्रियाएं समस्वर हों और उसमें यथेष्ट आन्तरिक

सन्तुलन हो तो उसके साथ ही उसमें प्रतिरोध की भी ऐसी शक्ति होती है कि छूत की बीमारी उसे छू नहीं सकती। परन्तु यदि किसी न किसी कारण वह अपना सन्तुलन खो बैठे या उदाहरणार्थ किसी अवसाद, असन्तोष, नैतिक कठिनाई या अत्यधिक थकान के कारण कमजोर पड़ जाये तो शरीर की सामान्य प्रतिरोधक शक्ति कम हो जाती है और वह रोग के प्रति खुल जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ११५

... जिसे हम बुरा या भला कहते हैं वह नाममात्र को ही है। बल्कि यह कहा जा सकता है कि वहां जो कुछ उपस्थित है वह या तो रचनात्मक है या विनाशकारी, प्रगतिशील है या ह्रासकारी। यह सचमुच बड़ी महत्त्वपूर्ण बात है। और फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो प्रकाशपूर्ण, प्रसन्न, प्रफुल्ल और सदा मुस्कुराते रहते हैं और कुछ ऐसे होते हैं जो उदास, सुस्त, द्रोही और असन्तुष्ट रहते हैं, अन्धकार में ही निवास करते हैं। ये ही लोग हमेशा अप्रिय स्थितियों में जा गिरते हैं। जो लोग दीप्तियुक्त हैं (आध्यात्मिक दीप्ति भले न हो, यह दीप्ति विवेक-बुद्धि की, सन्तुलन की, एक आन्तरिक विश्वास की और जीने के आनन्द की भी हो सकती है), जिन लोगों में जीने का आनन्द होता है, वे 'प्रकृति' के साथ सामञ्जस्य के भाव में रहते हैं और 'प्रकृति' के साथ सामञ्जस्य रख कर ये साधारणतया दुर्घटनाओं से बच जाते हैं, बीमारियों से भी बचे रहते हैं, उनका जीवन इस संसार में, जैसा कि वह है, यथासम्भव सुखकर रूप में विकसित होता रहता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ६, पृ. ३

मैं फिर से कहती हूं, धन मनुष्य को सुखी नहीं बनाता, बल्कि आन्तरिक ऊर्जा का सन्तुलन, अच्छा स्वास्थ्य और अच्छे भाव सुखी बनाते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. १६८

पूर्णता कोई निष्क्रिय स्थिति नहीं होती, यह एक प्रकार की सन्तुलन की अवस्था होती है; पर होता है वह एक प्रगतिशील, सक्रिय सन्तुलन।

—श्रीमां

आत्म-सचेतनता की शक्ति

हम अपनी सत्ता के एक नगण्य से भाग में सचेतन हैं; इसके अधिकांश भाग में हम अचेतन हैं। यह अचेतनता ही हमें अपनी प्रकृति के अपरिमार्जित भाग के साथ नीचे की ओर बांधे रखती है और उसके परिवर्तन या रूपान्तर को रोकती है। अचेतना द्वारा ही अदिव्य शक्तियां हमारे अन्दर घुस आती हैं और हमें अपना गुलाम बना लेती हैं।

तुम्हें अपने बारे में सचेतन होना चाहिये, अपनी प्रकृति और प्रवृत्तियों के प्रति तुम्हें जाग्रत् होना चाहिये, तुम्हें यह जानना चाहिये कि तुम किसी चीज को क्यों और कैसे करते हो, कैसे सोचते या अनुभव करते हो। तुम्हें अपने प्रेरक भावों, आवेशों और अपनी गुप्त या प्रकट शक्तियों को, जिनकी प्रेरणा से तुम काम करते हो, समझना चाहिये। या यूं कहें कि तुम्हें अपनी सत्ता की मशीन के सभी कल-पुरजों को अलग-अलग करके जान लेना चाहिये।

एक बार तुम सचेतन हो जाओ तो तुम खरे और खोटे की परख और छान-बीन कर सकोगे, तुम देख सकोगे कि कौन-सी शक्तियां तुम्हें नीचे की ओर खींचती हैं और कौन-सी ऊपर उठने में सहायता देती हैं। और जब तुम उचित को अनुचित से, सत्य को असत्य से, दिव्य को अदिव्य से अलग करके जान सको तो तुम्हें सख्ती से अपने इस ज्ञान के अनुसार चलना चाहिये, अर्थात्, दृढ़तापूर्वक एक को त्याग कर दूसरे को स्वीकार करना चाहिये। पग-पग पर ये द्वन्द्व तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे और पग-पग पर तुम्हें चुनाव करना होगा। तुम्हें धैर्य रखना होगा, लगन लगाये रहना होगा और चौकन्ना रहना होगा—योगियों की भाषा में "निद्रा-रहित"; जो कुछ भी दिव्य हो उसे स्वीकार करना होगा और जो कुछ अदिव्य हो उसे किसी भी प्रकार का मौका देने से सदा ही इन्कार करना होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २

अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिए सबसे पहला पग है अपने विषय में सचेतन होना, अपनी सत्ता के विभिन्न अंगों और उनकी अलग-अलग क्रियाओं के विषय में सचेतन होना। तुम्हें इन सब अंगों को एक-दूसरे से

अलग करके देखना और पहचानना सीखना चाहिये ताकि तुम स्पष्ट रूप से यह पता लगा सको कि तुम्हारे अन्दर जो-जो क्रियाएं होती हैं, तुम्हें काम में जोतने वाले जो अनेक प्रकार के आवेग-प्रवेग, प्रतिक्रियाएं और परस्पर विरोधी इच्छाएं तुम्हारे अन्दर उठती हैं, उन सबका मूल कहां है।

यह एक श्रमसाध्य अध्ययन होगा और इसके लिए बहुत अधिक लगन और सच्चाई की आवश्यकता है। क्योंकि मानव-स्वभाव की, विशेषकर मन के स्वभाव की यह एक सहज प्रवृत्ति होती है कि हम जो कुछ सोचते, अनुभव करते, कहते और करते हैं उसकी हम एक अनुकूल व्याख्या दे डालते हैं। जब हम बहुत अधिक सावधानी के साथ इन सारी क्रियाओं को देखेंगे, मानों इन्हें अपने उच्चतम आदर्श के न्यायालय में पेश करेंगे और उसके निर्णय के सामने झुक जाने का सच्चा संकल्प बनाये रखेंगे, केवल तभी हम यह आशा कर सकते हैं कि हमारे अन्दर एक ऐसा विवेक उत्पन्न होगा जो कभी भूल न करेगा। क्योंकि अगर हम सचमुच उन्नति करना और अपनी सत्ता के सत्य को जानने की क्षमता प्राप्त करना चाहते हैं, अर्थात्, उस एक बात को जान लेना चाहते हैं जिसके लिए वास्तव में हमने जन्म लिया है, जिसे हम इस पृथ्वी पर अपना उद्देश्य कह सकते हैं, तो फिर, जो चीजें हमारी सत्ता के सत्य का खण्डन करती हैं, जो चीजें उसका विरोध करती हैं, उन सबको हमें बहुत नियमित रूप से और निरन्तर अपने अन्दर से निकालते रहना होगा अथवा उन्हें अपने अन्दर नष्ट करते रहना होगा। बस, इसी तरह धीरे-धीरे हमारी सत्ता के सभी भाग, सभी अंग संघटित होकर हमारे चैत्य केन्द्र के इर्द-गिर्द एक पूर्ण सुसमञ्जस वस्तु का रूप ग्रहण कर सकेंगे।

इस एकीकरण के कार्य को एक हद तक पूर्णता प्राप्त कराने के लिए एक लम्बे समय की आवश्यकता होती है। इसीलिए, इसे सिद्ध करने के लिए, हमें धैर्य और सहनशीलता-रूपी अस्त्रों से सुसज्जित होना चाहिये और यह निश्चय कर लेना चाहिये कि अपने प्रयास को सफल बनाने के लिए जितने दिनों तक अपना जीवन बनाये रखने की आवश्यकता होगी उतने दिनों तक हम उसे बनाये रखेंगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ३-४

... इस प्रकार की आत्म-सचेतनता, अपने-आपको क्रिया करते हुए निरीक्षण करने की, हम कार्य क्यों करते हैं, कैसे करते हैं आदि समझने की, और फलतः अधिकार रखने और कर्म बदलने की यह सम्भावना—यह मन की चीज है और अपने निजी अधिकार से प्राप्त मनुष्य की चीज है।

यही मनुष्य और पशु के बीच एक प्रमुख अन्तर है—यह कि मनुष्य अपने विषय में सचेतन है, वह उस शक्ति के विषय में सचेतन हो सकता है जो उससे कार्य कराती है, और न केवल उसके विषय में अवगत हो सकता है बल्कि उस पर अपना अधिकार भी जमा सकता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ६५

श्रीअरविन्द कहते हैं कि तुम्हें सबसे पहले अपने विषय में सचेतन होना चाहिये, **फिर** सोचना, और **फिर** कार्य करना चाहिये। सभी कार्यों से पहले सत्ता के आन्तरिक सत्य का अन्तर्दर्शन प्राप्त होना चाहिये; सर्वप्रथम सत्य का अन्तर्दर्शन, फिर इस सत्य का विचार-रूप में सूत्रीकरण, फिर विचार द्वारा कर्म का सृजन होना चाहिये।

यही है सामान्य प्रक्रिया।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. ४०९

... यह कहीं अधिक अच्छा है, बल्कि मैं कहूंगी कि एकदम अनिवार्य है, कि तुम अपने अवलोकन के गुण का उपयोग अपने कार्य-क्षेत्र में, तुम अपने काम में जिस पद्धति का उपयोग करते हो उसमें, अपने अनुभव से तुम जो निष्कर्ष निकाल सकते हो उसमें, तुम जो ज्ञान प्राप्त कर सकते हो उसमें, यानी, इन सब चीजों में उसका उपयोग कर सकते हो... लेकिन उसे स्वयं अपनी ओर मोड़ कर, काम करते हुए, अपने-आपका अवलोकन न करो। अपने-आपको अवलोकन की वस्तु बनाने की गति भयंकर है। यह हमेशा असंगति पैदा करती है, जो कभी-कभी बहुत गम्भीर हो जाती है। तो, मनुष्यों का बहुत बड़ा भाग अपने-आपको कार्य करते हुए देखने में, अपने-आपको जीते हुए देखने में अपना समय बिताता है। और इससे ये बहुत ज्यादा... जिसे अंग्रेज़ी में "सेल्फ़-कॉन्शस" (आत्म-सचेतन) कहते हैं, वैसे बन जाते हैं। यानी, निष्कपट-भाव से पूरी तरह उस चीज में लगे

रहने की जगह जो वे कर रहे हैं, ऐकान्तिक रूप से उसमें लगे रहने की जगह, वे अपने-आपको कार्य करते हुए निहारते हैं और अपने अपने विशिष्ट स्वभाव के अनुसार अपनी सराहना या निन्दा करते हैं।

ऐसे लोग हैं जो बड़ी भद्रता और बहुत ही सन्तोष के साथ अपने-आपको कार्य करते हुए देखते हैं, और अपने-आपको सचमुच बहुत ही विलक्षण मानते हैं। इसके विपरीत, ऐसे लोग हैं जिनमें समालोचना की भावना होती है, और वे अपना सारा समय अपनी आलोचना करने में ही बिता देते हैं। इनमें कोई किसी से अच्छा नहीं है।

ये समान रूप से खराब हैं। सबसे अच्छा तो यह है कि स्वयं अपने आपमें व्यस्त न रहो।

अगर तुम्हें कोई काम करना है तो सबसे अच्छा यह है कि उस काम में और स्वभावतः, उसे अच्छे-से-अच्छे तरीके से करने में व्यस्त रहो। यह हमेशा अच्छा होता है, लेकिन यह नहीं—तुम अच्छा करो या बुरा- कि तुम करते हुए अपने-आपको देखो और अपनी सराहना करो; यह बेकार सी चीज है।

यह बहुत उपयोगी है कि यह पता लगाया जाये कि काम कैसे किया जाये और उसे करने का अच्छे-से-अच्छा तरीका क्या है। लेकिन अपने आपको करते देखना और अपनी सराहना या निन्दा करना न सिर्फ बेकार है, बल्कि अशुभ और अनर्थकारी है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १९

पहले तो अधिकतर लोग कहेंगे : "यह आन्तरिक चेतना है क्या, जिसके बारे में आप बात कर रहे हैं? इसका हमें पता ही नहीं है!" अतः, स्पष्ट है कि... वे किसी ऐसी आन्तरिक चीज के बारे में सचेतन ही नहीं हैं जो उनकी साधारण चेतना से श्रेष्ठ है। इसका अर्थ है कि बहुत-सी प्रारम्भिक चीजें करनी जरूरी हैं, प्रारम्भिक सचेतनता की अवस्थाएं प्राप्त करना जरूरी है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १

आन्तरिक पथ-प्रदर्शक की शक्ति

बात यह है कि लोग यह देखने की तकलीफ नहीं उठाते कि क्या उनकी बुद्धि वस्तुओं और व्यक्तियों के सम्बन्ध में उन्हें सही विचार, सही निष्कर्ष, सही दृष्टिकोण, उनके आचार या क्रिया के सम्बन्ध में उन्हें सही संकेत दे भी रही है या नहीं। उनकी अपनी धारणा होती है और वे उसे सत्य मानते हैं या उसका अनुसरण केवल इसलिए करते हैं कि वह उनकी "निजी" धारणा है। जब वे समझ जाते हैं कि उन्होंने मानसिक भूलें की हैं फिर भी वे उसे बहुत महत्त्व की बात नहीं मानते और न पहले की अपेक्षा मानसिक रूप से अधिक सावधान रहने की चेष्टा ही करते हैं।...

यह माना जाता है कि मनुष्य अपनी बुद्धि का अनुसरण करते हैं, बिना किसी नियन्त्रण के अपने सही या गलत विचारों को रखते हैं और उनका समर्थन करते हैं; यह कहा जाता है कि बुद्धि मनुष्य का उच्चतम साधन है और उसे उसके विचारों के अनुसार सोचना और कार्य करना चाहिये। लेकिन यह सत्य नहीं है; बुद्धि को अपने मार्गदर्शन, संयम और नियन्त्रण के लिए आन्तरज्योति की ठीक उतनी ही आवश्यकता है जितनी प्राण को। बुद्धि से ऊपर कोई ऐसी वस्तु है जिसे व्यक्ति को खोज निकालना है और सत्य-ज्ञान के उस उद्गम की क्रिया के लिए बुद्धि केवल एक मध्यवर्ती साधन ही होनी चाहिये।

SABCL खण्ड २४, पृ. १२४६

मनुष्य के चिन्तनशील मन के लिए प्रत्येक वस्तु के हमेशा ही अनेक पहलू होते हैं और यह मन अपने झुकाव या अपनी पसन्द या अपने अभ्यस्त विचारों या बुद्धि के सामने अपने को सर्वोत्तम युक्ति के रूप में प्रस्तुत करने वाले किसी तर्क के अनुसार निर्णय करता है। यह यथार्थ सत्य को केवल तभी प्राप्त करता है जब कोई अन्य वस्तु इसके अन्दर उच्चतर प्रकाश को उंडेलती है—जब चैत्य या अन्तःप्रेरणा इसका स्पर्श करते हैं और इसे अनुभव करते या सत्य को दिखा देते हैं।

SABCL खण्ड २४, पृ. १२४७

उचित बात यह है कि सभी वस्तुओं को एक अविचल शान्ति के साथ देखना, "भला" और "बुरा" दोनों को प्रकृति की ऊपरी सतह पर होने वाली एक गतिविधि के रूप में देखना। किन्तु इसे सच्चे तरीके से किया किसी भूल या अहंकार या गलत प्रतिक्रिया के—करने के लिए एक ऐसी चेतना एवं ज्ञान की आवश्यकता होती है जो वैयक्तिक और सीमित न हो।

SABCL खण्ड २४, पृ. १२४७

... बुद्धि शब्द एक अन्य अधिक गभीर अर्थ में भी प्रयुक्त किया जाता है। बौद्धिक प्रज्ञा केवल निम्नतर बुद्धि है; एक अन्य उच्चतर बुद्धि भी है जो प्रज्ञा नहीं बल्कि अन्तर्दर्शन है, नीचे स्थित होना नहीं, बल्कि ज्ञान में ऊपर स्थित होना है, और जो ज्ञान की खोज एवं प्राप्ति निरीक्षित सामग्री के अधीन रह कर नहीं करती, बल्कि सत्य को पहले से ही अपने अन्दर रखती है और सत्यदर्शक एवं अन्तर्भासात्मक विचार के रूपों में उसे प्रकट करती है।

SABCL खण्ड २०, पृ. २९७ —श्रीअरविन्द

किस आधार पर तुम अपना निर्णय करोगे? कौन-सा ज्ञान तुम्हें यह निश्चय करने देगा: "मुझे यह करना चाहिये या मुझे वह करना चाहिये, मुझे यह कहना चाहिये या मुझे वह कहना चाहिये या मुझे कुछ भी न कहना चाहिये"—ये अनगिनत सम्भावनाएं जो तुम्हारे सामने आती हैं? और तुम अपना निर्णय किस आधार पर करोगे? अगर तुम सच्चाई के साथ इसे देखो तो तुम्हें हर पग पर यह समझ में आयेगा कि तुम्हें पता नहीं है।

तुम निश्चिति के साथ, बिना हिचकिचाये, बिना प्रश्न किये, बिना किसी चीज के तभी कुछ कर सकते हो जब तुम्हारे अन्दर अपने में पैठने की, अपनी आन्तरिक चैत्य चेतना की राय लेने और तुम जो चाहते हो उसके बारे में उसी के द्वारा निर्णय कराने की आदत हो। तुम्हें पता होता है कि यही चीज है जिसे करना चाहिये और उसके बारे में कोई प्रश्न ही नहीं होता; लेकिन यही एकमात्र अवस्था है। अतः, केवल तभी जब तुम सचेतन रूप से, निरन्तर अपने चैत्य को पथ-प्रदर्शन करने दो, तभी तुम

सचेतन रूप से हमेशा उचित चीज कर पाते हो; लेकिन यही एकमात्र अवस्था है...

तुम्हारे अन्दर केवल एक ही चीज है जो जानती है, वह है तुम्हारी चैत्य सत्ता; **वह** कोई गलती नहीं करती, वह तुरन्त, तत्काल तुम्हें बता देगी, अगर तुम एक भी शब्द बोले बिना, अपने विचारों और तर्कों के बिना उसका कहा मानो, तो वह तुमसे उचित चीज करायेगी। लेकिन बाकी सब कुछ... तुम भटक जाते हो।

और हर चीज के लिए : तुम क्या पढ़ने वाले हो, क्या नहीं पढ़ने वाले हो, क्या काम करने वाले हो, कौन-सा पथ चुनने वाले हो? लेकिन तब हर तरह की सम्भावनाएं आ जाती हैं, वह सब जिसका तुमने अध्ययन किया है या जो तुमने जीवन में देखा है, तुमने सभी ओर से जो सुझाव पाये हैं, ये सब चीजें मौजूद रहती हैं, यूं, तुम्हारे चारों ओर नाचती रहती हैं। और तुम किस चीज से निश्चय करोगे?

मैं ऐसे लोगों की बात कर रही हूं जो पूरी तरह से सच्चे होते हैं और जिनमें पहले से कल्पित भाव, पक्षपात और बंधे-बंधाये नियम नहीं होते जिनका वे यान्त्रिक दिनचर्या की तरह अनुसरण करते हों, यह जानने का भी बिलकुल प्रयास न करते हों कि सत्य क्या है और जिनके लिए उनकी अपनी मानसिक रचना ही सत्य है। तब चीज बहुत सरल होती है, व्यक्ति पथ पर सीधा चलता जाता है, दीवार से अपनी नाक टकराता है, लेकिन उसे तब तक भान नहीं होता जब तक कि नाक कुचल नहीं जाती। अन्यथा यह बहुत अधिक कठिन है।

श्रीअरविन्द का यही मतलब था जब उन्होंने कहा कि मनुष्य हमेशा अज्ञान में रहता है और जब तक अज्ञान के मन का स्थान प्रकाश का मन नहीं ले लेता तब तक व्यक्ति सच्चे रास्ते का अनुसरण नहीं कर सकता, और यह कि किसी भी सर्वांगीण रूपान्तर के पहले यह तैयारी अनिवार्य है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. २१६-१८

नियम के तौर पर सभी कुछ ठीक माना जाता है जब निर्णय पूरी तरह से तकनीकी ज्ञान और पर्याप्त निष्पक्षता पर आधारित होते हैं। ऐसा निर्णय इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान पर निर्भर होता है और प्रायः ही लोग उसे ऐसी

चीज समझते हैं जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पर, जो भी, और वास्तव में देखा जाये तो इस तरह प्राप्त किया हुआ ज्ञान स्वतः निर्णायक नहीं होता। ये इन्द्रियां उस व्यक्ति की आन्तरिक अवस्था के सीधे प्रभाव में होती हैं जो उनका उपयोग करता है, और इसलिए दृश्य वस्तु के विषय में द्रष्टा का जो भी मनोभाव होता है उसके द्वारा एक-न-एक प्रकार से इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान परिवर्तित, मिथ्या और विकृत हो जाता है।

उदाहरणार्थ, जो लोग किसी एक दल या संस्था के होते हैं, वे या तो उस दल के सदस्यों के प्रति बहुत अधिक नरम होते हैं या अनुचित रूप से सख्त होते हैं। सत्य की दृष्टि से देखा जाये तो, चाहे नरमी हो या सख्ती, कोई भी एक-दूसरे से अधिक मूल्य नहीं रखती, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओं में निर्णय आन्तरिक भावना पर आश्रित होता है, तथ्यों के वास्तविक और अनासक्त ज्ञान पर नहीं। यह बात बहुत स्पष्ट है, पर इस हद तक यदि न भी जाया जाये, फिर भी यह कहा जा सकता है कि कोई भी मनुष्य... इन सब आकर्षणों और विकर्षणों से मुक्त नहीं होता और इन सब चीजों को बहुत कम ही लोग अपनी ऊपरी सक्रिय चेतना में देख पाते हैं, जब कि ये इन्द्रियों की क्रियाओं पर बहुत अधिक प्रभाव डालती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. २३९

यह सब हमें बहुत गहराई से यह अनुभव करने को बाध्य करता है कि मनुष्य के ऐसे निर्णय जो स्वार्थ और अहंभाव की प्रतिक्रियाओं पर आधारित होते हैं, कितने मूर्खतापूर्ण होते हैं।

जब तक मनुष्य अज्ञान की अवस्था में निवास करता है, जिससे कि आजकल वह है, तब तक उसके मतों और निर्णयों का 'सत्य' के समान कुछ मूल्य नहीं होता, इन्हें ऐसा ही समझना भी चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. ३१०

प्राणिक ईमानदारी : अपने संवेदनों और अपनी कामनाओं द्वारा अपने मूल्यांकन को झुठलाने और अपनी क्रिया का निश्चय न करने देना।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. २०५

... यह बहुत अधिक आवश्यक है कि मनुष्य प्रत्येक बात पर जितने दृष्टिकोणों से विचार करना सम्भव हो उतने दृष्टिकोणों से विचार करे। इस विषय से सम्बन्धित एक अभ्यास ऐसा है जो विचार में बहुत अधिक नमनीयता और ऊंचाई ले आता है। वह इस प्रकार है : स्पष्ट रूप से प्रकट की गयी एक धारणा, एक मत सामने रख देना चाहिये, फिर उसके मुकाबले में उसका विरोधी मत भी ला उपस्थित करना चाहिये जो वैसी ही सूक्ष्मता के साथ प्रकट किया गया हो। फिर, सावधानी के साथ चिन्तन-मनन करते हुए उस समस्या को विस्तारित करना चाहिये अथवा उसका अतिक्रमण करना चाहिये जब तक कि एक ऐसा समन्वय प्राप्त न हो जाये जो उन अत्यन्त विरोधी मतों को भी एक विशालतर, उच्चतर और अधिक व्यापक भावना के अन्दर युक्त कर दे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. ५

... अगर तुम किसी विशेष विषय के यथार्थ, ठोस, स्पष्ट, निश्चित विचार पर पहुंचना चाहो तो तुम्हें उसके लिए प्रयास करना होगा, अपने-आपको एकत्र करना होगा, अपने-आपको स्थिर करना होगा, एकाग्र होना होगा। और जब तुम पहली बार इसे करते हो तो यह अक्षरशः चोट पहुंचाता है, यह थका देता है! परन्तु तुम यदि इसका अभ्यास न डालो तो सारे जीवन तुम एक दोलायमान स्थिति में निवास करोगे। और जब तुम्हारे मन के सामने व्यावहारिक बातें आयेंगी, जब ये बातें तुम्हारे सम्मुख उपस्थित होंगी—क्योंकि, सब कुछ के बावजूद, मनुष्य के सामने सर्वदा ही कुछ समस्याएं उपस्थित होती हैं जिन्हें हल करना होता ही है, जो बिलकुल व्यावहारिक ढंग की होती हैं—हां, तब तुम समस्या के सभी पहलुओं को समझने, उन्हें आमने-सामने रखने, प्रश्न को सभी दृष्टिकोणों से देखने, और फिर उससे ऊपर उठ कर समाधान देखने में समर्थ नहीं होओगे, उसके बदले तुम किसी धुंधली और अनिश्चित वस्तु के चक्करों में उछाले, गिराये जाओगे, और तुम्हें ऐसा लगेगा कि कितने सारे मकड़े तुम्हारे मस्तिष्क में चारों ओर दौड़ रहे हैं—परन्तु तुम उस चीज को पकड़ने में सफल नहीं होओगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. १९१

अचञ्चल और नीरव रहना सीखना... जब तुम्हारे सामने सुलझाने के लिए कोई समस्या हो तो सब सम्भावनाओं, सब परिणामों, करणीय या अकरणीय, सब सम्भव चीजों पर दिमाग लड़ाने की जगह यदि तुम समाधान की अभीप्सा लिये अचञ्चल बने रह सको, यदि सम्भव हो तो समाधान की आवश्यकता लिये, तो बहुत जल्दी समाधान निकल आता है। और क्योंकि तुम नीरव होते हो, इसलिए तुम उसे सुन पाते हो।

जब तुम किसी कठिनाई में फंस जाते हो तो इस तरीके को आजमाओ। विक्षुब्ध होने, सब विचारों को उलटने-पलटने, जोर-शोर से समाधान ढूंढ़ने, चिन्ता करने, चिढ़ने, अपने सिर के अन्दर इधर-उधर भागते रहने के बजाय—मेरा मतलब बाह्य रूप से नहीं है, इतनी सामान्य बुद्धि तो तुम में होगी ही कि बाह्य रूप में दौड़-भाग न करो! बल्कि, अन्दर, अपने सिर में —**अचञ्चल बने रहो।** और अपने स्वभाव के अनुसार, उत्कटता के साथ या शान्ति के साथ, तीव्रता के साथ या विस्तार के साथ या इन सबको मिला कर, 'प्रकाश' की अभ्यर्थना करो और उसके आगमन की प्रतीक्षा करो।

इस तरह पथ काफी छोटा हो जायेगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३८९

केवल अचञ्चलता और शान्ति में ही तुम जान सकते हो कि करने लायक सबसे अच्छी चीज क्या है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १४, पृ. १५८

मधुर मां, ... हमारे सामने कोई कठिनाई हो तो क्या करना चाहिये?

... तुम एकदम अकेले, चुपचाप बैठ जाओ, नीरव होने की कोशिश करो, बुलाओ, मुझे इस तरह बुलाओ मानों मैं मौजूद हूं। मुझे वहां बुला लो और पूरी सच्चाई और तटस्थता से अपनी कठिनाई मेरे सामने रखो; और फिर, बिलकुल नीरव रहो, बिलकुल चुपचाप रहो और परिणाम के लिए प्रतीक्षा करो।

और मेरा ख्याल है कि परिणाम आता है। कठिनाई कैसी है उस पर

निर्भर करता है। अगर कोई ऐसी समस्या है जिसका हल करना है, तो हल आ जाता है; अगर वह कोई आन्तरिक गतिविधि है, कोई ऐसी चीज है जो पथ-भ्रष्ट हो गयी है, तो अगर तुम पूरी सच्चाई के साथ यह करो, तो सामान्यतः, चीज को यथास्थान रख दिया जाता है; और अगर कोई निर्णय लेना है, अगर कोई ऐसी चीज है जिसके बारे में तुम्हें पता नहीं कि उसे करना चाहिये या नहीं, तो अगर तुम बहुत शान्त रहो, तो यह भी पता लग जाता है कि उसका उत्तर हां है या ना; उत्तर "हां" या "ना" में आता है। तब तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिये, मन को यह न कहना चाहिये : "लेकिन अगर...? और फिर...", क्योंकि तब सब कुछ धुंधला हो जाता है। तुम्हें कहना चाहिये : "ठीक है!" और इस तरह अनुसरण करना चाहिये। लेकिन इसके लिए तुम्हें सच्चा और निष्कपट होना चाहिये, मतलब यह कि तुम्हारे अन्दर पसन्द-नापसन्द नहीं होनी चाहिये।...

वस्तुतः जब तुम्हें लगे कि तुम किसी-न-किसी तरह के आवेग में फंस गये हो, विशेष रूप से क्रोध के आवेग में... तो तुम अपने लिए यह निश्चित अनुशासन बना लो, कि कुछ करने या बोलने की जगह (क्योंकि बोलना भी एक क्रिया है), आवेग में आकर क्रिया करने की जगह, तुम पीछे हट जाओ और तब जैसा मैंने कहा वैसा करो, चुपचाप बैठ जाओ, एकाग्र होकर चुप, और अपने क्रोध को देखो और उसको लिख लो, तो जब तुम लिखना खतम करोगे, तब तक वह चला जायेगा—बहरहाल, अधिकतर ऐसा ही होगा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ७, पृ. १०२-०३

अतः, चीजों की वर्तमान अवस्था में, यह कहना असम्भव है : यह सच है और यह झूठ, यह हमें लक्ष्य से दूर ले जाता है, यह हमें लक्ष्य के नजदीक ले आता है।

जो प्रगति करनी है उसके अनुसार **हर एक चीज** का उपयोग किया जा सकता है; अगर हम उपयोग करना जानें तो **हर चीज** उपयोगी बन सकती है।

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि हम जिस आदर्श को चरितार्थ करना चाहते हैं उसे कभी आंखों से ओझल न होने दें और इसी उद्देश्य से सभी परिस्थितियों

का लाभ उठायें।

अन्ततः, चीजों के पक्ष या विपक्ष में निर्णय न लेना और साक्षी की निष्पक्षता के साथ घटनाओं को घटते देखना और भागवत 'प्रज्ञा' का आश्रय लेना ज्यादा अच्छा है। वह अधिकाधिक भले के लिए निश्चय करेगी और जो करना आवश्यक है करेगी।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १२, पृ. २९४-९५

मधुर मां, हम अहंकार की इच्छा-शक्ति को कैसे दूर कर सकते हैं?

इसका मतलब तो यही होता है कि अहंकार को कैसे दूर कर सकते हैं। यह केवल योग द्वारा ही किया जा सकता है।...

लेकिन अहंकार की इच्छा-शक्ति को **निकाल बाहर** करने से पहले, जिसमें बहुत लम्बा समय लगता है, व्यक्ति अहंकार की इच्छा-शक्ति को 'भागवत इच्छा-शक्ति' के **अर्पण** करने से शुरू कर सकता है, पहले पग पग पर और अन्ततः सतत रूप से। इसके लिए पहला कदम है यह समझ लेना कि हमारे लिए क्या अच्छा और क्या सचमुच जरूरी है इसे भगवान् हमसे ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं—केवल हमारी आध्यात्मिक प्रगति के लिए ही नहीं बल्कि हमारे भौतिक योगक्षेम के लिए, शारीरिक स्वास्थ्य और हमारी सत्ता की क्रियाओं के समुचित क्रिया-कलाप के लिए भी।

स्वभावतः, यह अहंकार की राय नहीं है, जो समझता है कि वह और सबकी अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह जानता है कि उसे क्या चाहिये और जो अपने लिए मूल्यांकन और निर्णय की स्वाधीनता का दावा करता है। लेकिन वह ऐसा इसलिए सोचता और अनुभव करता है क्योंकि वह अज्ञानी है और धीरे-धीरे व्यक्ति को उसे यह विश्वास दिलाना होगा कि उसका बोध और उसकी समझ सचमुच जान सकने के लिए बहुत ज्यादा सीमित है, कि वह अपनी कामनाओं के अनुसार ही मूल्यांकन करता है जो सत्य के अनुसार न होकर अन्धी होती हैं।

क्योंकि कामनाएं आवश्यकताओं की नहीं, पसन्द नापसन्द की सूचक होती हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. २११-१२

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

सितम्बर

१. भूतकाल को गुजर जाने दो और जो प्रगति तुम करना चाहते हो केवल उसी पर केन्द्रित रहो और तुम जो प्राप्त करना चाहते हो उसे भगवान् को समर्पित कर दो।

२. जब तक कि हम अतीत की आदतों और विश्वासों से पिण्ड नहीं छुड़ा लेते तब तक तेजी से आगे बढ़ने की बहुत आशा नहीं रहती।

३. भूतकाल को भूल जाना और सोचते रहने की आदत को भूल जाना सचमुच कठिन है और साधारणतः इसके लिए कठिन "तपस्या" की जरूरत होती है। लेकिन अगर तुम्हारे अन्दर भगवान् की कृपा पर श्रद्धा है और तुम उसे पूरे हृदय से पुकारो तो तुम अधिक आसानी से विजय पा लोगे।

४. जीवन में ऐसे अनोखे क्षण आते हैं जो स्वप्न की तरह गुजर जाते हैं। तुम्हें उन्हें पंखों से ही पकड़ लेना चाहिये अन्यथा वे कभी नहीं लौटते।

५. जीवन में सबसे महत्त्वपूर्ण क्षण कौन-सा है? वर्तमान क्षण। क्योंकि भूतकाल का तो अस्तित्व ही नहीं रहता और भविष्य का अभी तक कोई अस्तित्व नहीं है।

६. हमेशा ऊंचे उड़े चलो, दूर-दूर चलते चलो, बिना हिचके चले चलो। आज की आशाएं कल की सिद्धियां होंगी।

७. मेरा सुझाव है कि हम वही करते चलें जो सही और उचित है। भविष्य के बारे में ज्यादा चिन्ता न करो। भविष्य को भागवत कृपा के हाथ में छोड़ दो।

८. हर नया प्रभात नयी प्रगति की सम्भावना लाता है। हम बिना जल्दबाजी के आगे बढ़ते जायेंगे क्योंकि हम भविष्य के बारे में निश्चित हैं। धन्य हैं वे जो भविष्य में छलांग मारते हैं।

९. जिस क्षण तुम सन्तुष्ट हो जाओ और अभीप्सा करना छोड़ दो, उसी क्षण से तुम मरना शुरू कर देते हो। जीवन गति है, जीवन प्रयास है। यह आगे ही आगे की ओर कूच है, भावी अनुप्राप्तियों और सिद्धियों की ओर आरोहण है। आराम करना चाहने से ज्यादा घातक और कुछ नहीं है।

१०. पूर्णता कोई शिखर नहीं है, यह कोई अन्तिम सीमा नहीं है। तुम जो कुछ करो किसी में अन्त नहीं है, हमेशा कुछ ज्यादा अच्छा करने की सम्भावना रहती है और ज्यादा अच्छा करने की सम्भावना ही प्रगति का सच्चा अर्थ है।

११. बाहर के सारे शोर-गुल को चुप कर दो, भागवत सहायता के लिए अभीप्सा करो, जब वह आये तो अपने-आपको उसके प्रति पूरी तरह से खोल दो और उसकी क्रिया के प्रति समर्पित हो जाओ, और वह प्रभावशाली ढंग से तुम्हारा रूपान्तर ले आयेगी।

१२. समस्त विश्व में तेरे जीवन, तेरे प्रकाश, तेरे प्रेम के सिवा कुछ भी नहीं है।

१३. इच्छा-शक्ति को विकसित करो—और इच्छा-शक्ति विकसित होती है उसके स्थिर प्रयोग से। ठीक वैसे ही जैसे मांसपेशियां उतनी ही अधिक सुदृढ़ होंगी जितना अधिक उनका प्रयोग किया जायेगा।

१४. अनुशासन के बिना कोई अच्छा काम नहीं हो सकता। हर एक अपने-अपने स्थान पर, ईमानदारी के साथ अपना नियत काम करे तो सब कुछ ठीक होगा।

१५. अगर काम में कुछ कठिनाइयों का सामना होता है तो सच्चाई से अपने अन्दर देखो और तुम उनके मूल को पा जाओगे।

१६. जब-जब तुम अपने-आपको चञ्चल अनुभव करो, अपने अन्दर ही अन्दर, कोई बाह्य आवाज किये बिना, मेरा नाम लेते हुए कहो: "शान्ति, शान्ति, ओ मेरे हृदय!"... ऐसा लगातार करते रहो। इसका फल तुम्हारे लिए सुखकर होगा।

१७. प्रसन्नता अवसाद की तरह छुतहा है—और लोगों के अन्दर सच्ची तथा गहरी प्रसन्नता फैलाने से अधिक उपयोगी और कुछ नहीं हो सकता। दूसरों से सुख लेने की अपेक्षा दूसरों को सुख देने से तुम्हें ज्यादा खुशी मिलती है।

१८. अपने दुश्मन की ओर यथार्थ रूप में तुम तभी मुस्करा सकते हो जब तुम समस्त अपमान और तिरस्कार से ऊपर हो। यौगिक मनोवृत्ति

की यह प्राथमिक शर्त है।

१९. जो लोग वास्तव में बलवान् और प्रभावशाली होते हैं हमेशा बहुत शान्त रहते हैं। केवल कमजोर ही बेचैन हो उठते हैं। सच्ची शान्ति हमेशा शक्ति का चिह्न है।

२०. हर बुराई सन्तुलन के अभाव से आती है।

२१. अपनी मुश्किलों के पीछे लगे रहने से आदमी उन्हें जीत सकता है, उनसे दूर भागने से नहीं। जो उनके पीछे लगा रहता है उसकी जीत निश्चित है। सबसे अधिक सहनशील व्यक्ति को विजय मिलती है। अपना अच्छे-से-अच्छा करो और परिणाम भगवान् पर छोड़ दो।

२२. जब तक तुम अपने हृदय में शान्ति नहीं पाओगे तब तक तुम उसे और कहीं नहीं पा सकोगे।

२३. जब तुम्हारे जीवन में कठिनाई आये तो उसे भागवत कृपा के रूप में लो और तब वह सचमुच कृपा बन जायेगी।
भागवत कृपा पर पूरा भरोसा रखने से जो शान्ति आती है उसकी किसी के साथ तुलना नहीं की जा सकती।

२४. सारी संकीर्णता, स्वार्थ, सीमाओं को झाड़ फेंको और मानव एकता की चेतना को जगाओ। शान्ति और सामञ्जस्य पाने का यही एकमात्र तरीका है।

२५. अगर तुम पृथ्वी पर शान्ति चाहते हो तो पहले अपने हृदय में शान्ति स्थापित करो।
अगर तुम जगत् में एकता चाहते हो तो पहले अपनी ही सत्ता के विभिन्न भागों को एक करो।

२६. हे प्रभो, मैं तुझसे प्रार्थना करता हूं कि तू मेरे चरणों को रास्ता दिखा, मेरे मन को प्रकाशित कर ताकि मैं हर क्षण और हर चीज में ठीक वही करूं जो तू मुझसे करवाना चाहता है।

२७. जब मेरे विचार तेरी ओर उड़ान भरते हैं, तेरे साथ एक हो जाते हैं, तब सब कुछ कितना सुन्दर, भव्य, सरल और शान्त बन जाता है।

२८. प्रत्येक दिवस, प्रत्येक क्षण नये और अधिक पूर्ण समर्पण के लिए गभीर और नीरव समर्पण का एक अवसर होना चाहिये जो दिखायी तो न दे किन्तु जो गहरें पैठ कर सभी कार्यों को रूपान्तरित कर दे।

२९. जिस व्यक्ति ने अपनी सत्ता की पूरी सच्चाई के साथ अपने-आपको

तुझे अर्पित कर दिया है... वह पाता है कि उसके जीवन में सब चीजें बदल जाती हैं और सारी परिस्थितियां तेरे विधान को अभिव्यक्त करना आरम्भ करती हैं और समर्पण में सहायक होती हैं।

३०. हे प्रभु, हमारा जो कुछ है वह सब तेरी आराधना करे, तेरी सेवा करे। सबको शान्ति प्राप्त हो।

एक साधक के साथ पत्र-व्यवहार

(ये पत्र एक ऐसे साधक के नाम लिखे गये हैं जो बाद में श्रीअरविन्द अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा-केन्द्र में अध्यापक बन गये थे। इनमें से अधिक पत्र १९३३ और १९३५ के बीच लिखे गये थे।)

हे मां, मुझे अपने साथ ले लो, मैं तुम्हें हमेशा के लिए अपने हृदय में बिठाऊंगा। मैं तुम्हें खो न सकूंगा।

मुझे खोने का सवाल ही नहीं है। हम अपने अन्दर एक शाश्वत चेतना लिये रहते हैं और हमें इसी के बारे में अभिज्ञ होना चाहिये।

कारण कुछ भी क्यों न हो, जैसे ही मेरी चेतना तुम्हें खो बैठती है, मैं सुखहीन और ऊर्जाहीन हो जाता हूं।

मैं किसी क्षण भी तुम्हें नहीं भूलती। क्या तुम मेरे और अपने बीच बहुत सारे अन्य प्रभावों को नहीं आने देते?

मां, तुम्हारी उपस्थिति को सदा अपने पास अनुभव करना इतना कठिन क्यों है? अपने हृदय की गहराई में मैं भली-भांति जानता हूं कि तुम्हारे बिना मेरे लिए जीवन का कोई अर्थ नहीं है। लेकिन मेरा मन जरा-सा अवसर पाते ही इधर-उधर चल पड़ता है।

ठीक इसी कारण तुम उपस्थिति का अनुभव खो बैठते हो।

मैं सदा तुम्हारे साथ हूं और साधना की सबसे महत्त्वपूर्ण बातों में से

एक है आन्तरिक उपस्थिति के बारे में सचेतन होना। तुम 'क' से पूछ देखो, वह तुम्हें बतलायेगा कि उपस्थिति श्रद्धा का कोई विषय या मानसिक कल्पना नहीं है, वह एक तथ्य है और चेतना के लिए पूरी तरह ठोस और उसी तरह वास्तविक और मूर्त है जिस तरह अत्यधिक भौतिक तथ्य।

मेरी प्यारी मां, काश! मैं अपनी अज्ञानी सत्ता को यह विश्वास दिला पाता कि तुम्हें अपने हृदय के केन्द्र में पाना सम्भव है।

यह तुम्हारे हृदय को **विश्वास दिलाने का** प्रश्न नहीं है, तुम्हें इस उपस्थिति का **अनुभव** होना चाहिये और तब तुम जान पाओगे कि अपनी गहराइयों में तुम्हारा हृदय सदा इस उपस्थिति के बारे में सचेतन रहा है।

मेरे अन्दर से उस समस्त अन्धकार को निकाल दो जो मुझे अन्धा बना देता है और हमेशा मेरे साथ रहो।

मैं तुम्हारे हर विचार और हर अभीप्सा में हूं जिसे तुम मेरी ओर मोड़ते हो। अगर तुम हमेशा मेरी चेतना में उपस्थित न होते तो तुम कभी मेरे बारे में सोच ही न पाते। इसलिए तुम मेरी उपस्थिति के बारे में निश्चित हो सकते हो। मैं अपने आशीर्वाद जोड़ती हूं।

प्यारी मां, मैं प्रेम के उस स्रोत को कैसे पा सकता हूं जो मुझे यह अनुभव कराये कि दिव्य उपस्थिति सदा और सर्वत्र मेरे साथ है?

पहले तुम्हें भगवान् को पाना होगा, चाहे आभ्यन्तरीकरण और एकाग्रता द्वारा या श्रीअरविन्द के और मेरे अन्दर प्रेम और आत्मोत्सर्ग द्वारा। एक बार तुम भगवान् को पा लो तो स्वभावतः तुम उन्हें सभी चीजों में और सब जगह देखोगे।

भगवान् के साथ एक होने के दो तरीके हैं—एक है हृदय में एकाग्र होना और इतनी गहराई में जाना जहां उनकी उपस्थिति मिल जाये। दूसरा है अपने-आपको उनकी भुजाओं में डाल देना, वहां, छोटा बच्चा जैसे अपनी मां की गोद में चिपट जाता है उसी तरह **पूर्ण समर्पण** के साथ

चिपट जाना। मुझे लगता है कि इन दोनों में से दूसरा ज्यादा आसान है।

मेरी प्यारी मां, अगर भगवान् मेरे प्रेम और मेरी आत्मा के समर्पण के बदले में अपने-आपको मुझे दिखला दें तब तो यह काम मेरे लिए बहुत आसान होगा।

नहीं, केवल अन्तरात्मा नहीं, समस्त सत्ता के निःशेष समर्पण के बदले में।

कौन है जो मुझे तुमसे दूर रखता है?

स्वयं तुम।

यह कहना बिलकुल गलत है कि मैं तुमसे दूर रहना चाहती हूं; लेकिन मेरे नजदीक आने के लिए तुम्हें चढ़ कर मेरे नजदीक आना होगा, यह आशा न करो कि मैं तुम्हारे पास उतर कर इतना नीचे आऊंगी।

मेरी प्यारी मां, एक दिन तुमने मुझे लिखा था कि तुम्हें घनिष्ठ रूप से पाने के लिए मुझे उस स्तर तक चढ़ना होगा जहां तुम हो और मुझे यह आशा न करनी चाहिये कि तुम नीचे उतर कर आओगी, लेकिन मां, तुम इतनी महान् हो और इतने ऊंचे स्तर पर रहती हो कि वहां तक चढ़ना मुझे लगभग असम्भव लगता है। हमारे दोनों के स्तरों के बीच तो भेद की एक दुनिया खड़ी है। मैं तो उस क्षण का स्वप्न भी नहीं देख सकता जब मैं तुम्हारे पास होऊंगा। तुम हमेशा ज्यादा ऊंची रहोगी और मैं तुम्हारे लिए अभीप्सा किया करूंगा। मैं एक स्तर से दूसरे स्तर तक तुम्हारे पीछे लगा रहूंगा लेकिन, तुम हमेशा मुझसे दूर बनी रहोगी। यह छवि मुझे बुरी नहीं लगती क्योंकि मैं जानता हूं कि खोजने में बड़ा आनन्द है; लेकिन यह भी सच है कि मेरा हृदय हमेशा प्यासा बना रहेगा।

एक दृष्टिकोण से जो तुम कह रहे हो वह सच है; लेकिन चेतना के उलटाव की भी एक स्थिति है जिसमें वह अपने अन्धे और मिथ्या बनाने वाले अज्ञान से बाहर निकल कर सत्य की अवस्था में प्रवेश करती है और जब वह उलटाव सिद्ध हो जायेगा, वह परिवर्तन हो जायेगा, तो तुम अपने-आपको सदा मेरे पास अनुभव करोगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. १४९-५२

अनमोल भेंट

प्रभु का नाम ही है लीलामय, और कितने भाग्यवान् हैं हम मनुष्य कि उन्होंने इस धरती को अपनी लीला का रंगमंच चुना। युग-युगान्तर से उनकी अनुकम्पाभरी कथाओं की साक्षी रही है यह भारतभूमि।

देवर्षि नारद ने एक दिन सत्यभामा जी को स्मरण कराया—"देवि! उस दिन आपने कहा था कि श्रीद्वारिकाधीश इतने आपके हैं कि आप उनका दान भी कर सकती हैं, क्या यह बात सच है?"

सत्यभामा जी ने मुस्कुरा कर कहा—"देवर्षि! मैं आज ही निर्णय कर लूंगी।" नारद जी के जाने के बाद सत्यभामा ने अपने आराध्य से पूछा —"आप कहते तो हैं कि मैं तुम्हारा ही हूं किन्तु..."

"इसमें किन्तु परन्तु क्या देवि?" श्रीकृष्ण ने हंस कर कहा।

"मैं आपका दान कर दूं, स्वीकार्य है आपको?"

"कर के देख लो," द्वारिकाधीश हंस पड़े, "कल्पतरु भी तो तुमने इसी अभिप्राय से मंगवाया है।"

लीला में लीला!! प्रभु का दान होगा? सत्यभामा जी ने श्रीकृष्ण की सभी रानियों से स्वयं जा-जाकर अनुमति ली। अन्य सभी गुरुजनों को आमन्त्रित किया। और अगले दिन जब देवर्षि पधारे तो महारानी ने उनका विधिवत् पूजन-अर्चन कर उनको भोजन करवाया। फिर श्रीकृष्ण के कण्ठ में पुष्पमाला डाल उन्हें कल्पवृक्ष से बांध दिया। ऐसा करते ही वह कल्पवृक्ष इतना छोटा हो गया कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उस नन्हें से पारिजात के पौधे को श्रीकृष्ण के चरणों में बांध दिया और हाथ में जल लेकर सम्पूर्ण संकल्प पढ़ कर "इमं स्वपतिं नारदाय ब्रह्मपुत्राय प्रददे" कहते हुए उन्होंने पति का दान कर दिया। हजारों गउएं तथा विपुल स्वर्ण-राशि भी देवर्षि को दी गयीं।

इस लीला के समय देवतागण भी स्वर्ग से पुष्पवृष्टि कर रहे थे। जयध्वनि, शंखनाद तथा अन्य मंगल वाद्यों से दिग्-दिगन्त मुखरित हो उठा। सम्पूर्ण विधि के समाप्त होने पर देवर्षि आसन से उठे और वीणा उठा कर श्रीकृष्ण से बोले—"केशव, महारानी सत्यभामा ने आपको मुझे दान दे दिया है, अब आप मेरे हो गये, अब आपको मेरी आज्ञा का पालन करना होगा।"

नतमस्तक श्रीकृष्ण उठे और देवर्षि के पीछे-पीछे चल पड़े।

यह सारा नाटक था, कम-से-कम देवी सत्यभामा ने तो यही सोचा था, अतः जब श्रीकृष्ण चलने लगे तो वे मुस्कुरा कर बोलीं—"देवर्षि, अब आप हम पर कृपा कर प्रभु को हमें वापिस कर दें, इनके बदले में जितना धन-धेनु आप चाहें हम सहर्ष आपको समर्पित करेंगे।"

नारद जी ने देवी सत्यभामा के सामने हाथ जोड़ दिये, कहा—"देवि! मैं हूं अनासक्त, धन-धान्य लेकर क्या करूंगा भला? आपने तो स्वयं देख लिया कि श्रीकृष्ण का दान करते समय जो विपुल धन राशि आपने मुझे प्रदान की थी वह भी मैंने यहीं बांट दी। प्रभु के साथ-साथ आपने मुझे जो पारिजात-तरु दान में दिया उसे मैं आपको निस्संकोच वापिस कर देता हूं, उससे आपको सृष्टि के सभी वैभव प्राप्त हो जायेंगे, लेकिन जो जन्म-जन्मों की साधना से भी नहीं मिलते उन श्रीकृष्ण को पाकर उन्हें भला मैं कैसे लौटा सकता हूं?"

अब तो सत्यभामा जी आकुल-व्याकुल हो उठीं, खेल खेल में किया गया नाटक यह रूप ले लेगा ऐसी तो किसी ने कल्पना तक न की थी!!

व्यग्र होकर सत्याभामा जी बोल उठीं—"देवर्षि! आपने ही तो कहा था कि भगवती उमा ने भी अपने स्वामी को इसी प्रकार आपको दान में दिया था और फिर आपने उन्हें लौटा भी दिया था।"

"यह बात बिलकुल सच है महारानी, महर्षि कश्यप को भी इसी प्रकार देवमाता अदिति ने मुझे दान में दिया था, मैंने उन्हें भी लौटा दिया, लेकिन आपने यहां एक तथ्य पर सम्भवतः ध्यान नहीं दिया।" देवर्षि बोले।

"कौन-से तथ्य पर?" सत्यभामा जी पलट कर पूछ बैठीं।

"जब आपने कल्पतरु के साथ प्रभु को दान में दिया तो उस मन्दारतरु का आकार कितना छोटा हो गया था। अर्थात् स्वयं पारिजात, जो सम्पूर्ण त्रिलोक प्रदान कर सकता है वह भी उन देवाधिदेव कृष्ण के सम्मुख कितना नगण्य है, और अब आप उन्हीं सर्वेश्वर को मुझसे वापिस मांग रही हैं!!"

"अब क्या होगा?" यही प्रश्न वहां उपस्थित सभी लोगों के हृदयों को मथ रहा था।

सभा का वातावरण गम्भीर हो उठा। क्रन्दन का मौन स्वर उस विशाल

मण्डप के खम्भों से टकराने लगा, एक ऐसी कातरता का वितान उस सभा-भवन में छा गया कि देवर्षि भी गभीर सोच में पड़ गये। कुछ पलों के मौन के बाद उनकी वाणी गूंज उठी—"देवि! आपकी कातरता मुझे भी विह्वल बनाये दे रही है। मैंने एक मार्ग सोचा है, आप इन सर्वेश्वर को तराजू के एक पलड़े में बिठा कर इनके भार का द्रव्य मुझे दे दें। तब ये फिर से आपके हो जायेंगे।"

देवर्षि के इस प्रस्ताव को सुन कर सत्यभामा जी की बांछें खिल गयीं। वे यही तो चाह रही थीं, कृतज्ञता के आंसू टपक गये। कुछ देर पहले निराशा की मूर्ति बनी सभी रानियों के हृदयों में उत्साह का ऐसा सागर उमड़ा कि पलक झपकते न झपकते राजभवन में धन-धान्य, हीरे-जवाहरात का अम्बार लग गया। आखिर श्रीकृष्णचन्द्र को तोलना था!

लेकिन यह क्या! वह सारा सोना, वे सारे मणि-माणिक्य उन प्रभु के आगे मानों अपना सारा भार, अपनी सारी चमक खो बैठे। श्रीकृष्ण का पलड़ा भूमि से तिल मात्र भी न हिला। अब दूसरे पलड़े में और कुछ रखने का स्थान तक न था, देवर्षि बोल उठे—"देवि सत्यभामा, अब इस पलड़े में भौतिक स्थान नहीं है, लेकिन आप सम्पूर्ण मन से जिस चीज का संकल्प करेंगी वह वस्तु अपना भार इस पलड़े पर दर्शायेगी।" सत्यभामा संकल्प करती गयीं, द्वारिका का सम्पूर्ण राज्यकोष, यहां तक कि सम्पूर्ण द्वारिका भी संकल्प में दे डाली, वहां उपस्थित सभी ने अपने समस्त भौतिक द्रव्य का संकल्प कर सब कुछ दान में दे दिया, लेकिन श्रीकृष्ण भगवान् का पलड़ा ज्यों का त्यों जमीन पर टिका रहा।

चारों तरफ से दुःख के बादल घिर आये। "अब क्या होगा" यही एकमात्र प्रश्न पुनः वहां उपस्थित प्रत्येक नर-नारी की आंखों में तैरने लगा। महारानी सत्यभामा जी पर तो दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। उन्होंने जाकर महारानी रुक्मिणी के पैर पकड़ लिये और बोलीं—"बहन, ऋषि-मुनि कहते हैं कि तुम साक्षात् सिन्धुसुता हो, अब तुम्हीं कोई उपाय सुझाओ।"

रुक्मिणी जी ने पट्टमहिषी को सान्त्वना देकर कहा—"बहन, मैं तो अपने आराध्य की चरणसेविका हूं, स्वयं भी पलड़े में जा बैठूं फिर भी कुछ न होगा। हां, एक उपाय अवश्य है, तुम व्रज के शिविर से किसी को भी बुला लो, वहां कोई भी इनका मूल्य देने में समर्थ होगा।"

देवी रुक्मिणी की बात सुनते न सुनते महारानी सत्यभामा पैदल ही दौड़ती चली गयीं और जाकर श्रीराधा के चरण पकड़ लिये उन्होंने। वाणी तो साथ न दे रही थी, आंसुओं ने सब कह डाला।

श्रीराधाजी ने सत्यभामा को अंक में भर लिया और उनकी विह्वलता देख कर जैसी थीं वैसी ही उठ कर उनके संग हो लीं। वे वृषभानुनन्दिनी जब चल रही थीं तो सचमुच ऐसा लग रहा था मानों नारी का समस्त गौरव साक्षात् सौन्दर्य की मूर्ति में ढला हुआ गतिशील हो उठा है। राधा जी ने श्रीकृष्ण को नमन कर उसी महिमान्वित गौरव के साथ दूसरे पलड़े में रखे समस्त द्रव्य को हटाने का आदेश दिया और जब वह पलड़ा बिलकुल खाली हो गया तो उन्होंने अपने कण्ठ में पड़ी वनमाला से एक तुलसीदल तोड़ कर बहुत सावधानी से पलड़े पर रख दिया।

सबकी आंखें यह देख कर आश्चर्य से फटी की फटी रह गयीं कि वह पलड़ा तुरन्त भूमि से जा लगा और जिसमें भगवान् वासुदेव बैठे थे वह ऐसे ऊपर उठ गया मानों उसमें कुछ रखा ही न हो!! सारी धरती खुशी से डोल उठी। देवर्षि ने तुरन्त श्रीकृष्ण के कण्ठ में पड़ी माला निकाल कर सत्यभामा जी से कहा—"लीजिये देवि, केशव आपके हैं, सदैव आपके रहेंगे।"

केशव के तुला से उतरते ही देवर्षि नारद ने दूसरे पलड़े से वह तुलसीदल इतनी शीघ्रता से उठा कर अपनी जटा में छिपा लिया मानों उन्हें भय हो कि कहीं कोई उनसे वह छीन न ले। और फिर देवर्षि आनन्द-विभोर हो ऐसे झूमे कि धरती-आकाश सब कुछ उनके साथ नाच उठा।

श्रीकृष्ण के दान की यह लीला तो समाप्त हो गयी, लेकिन सत्यभामा जी के हृदय में एक प्रश्न बना रहा। उस दिन तो देवर्षि से उसके समाधान का अवसर न मिला क्योंकि वे ऐसे आनन्दोन्मत्त थे कि कोई भौतिक स्वर उनके कानों को छू तक न रहा था, लेकिन कुछ दिनों के बाद जब फिर से नारद जी का आगमन हुआ तो सत्यभामा जी ने सबसे पहले उनसे यही प्रश्न पूछा—"देवर्षि! श्रीकृष्ण के तुलादान के समय आपने वह तुलसीदल जिस तत्परता से अपनी जटाओं में छिपा लिया था और फिर जिस अतिशय आनन्द में आप डूब गये थे उसका रहस्य मैं आज तक न समझ पायी। भगवन्! कृपया आज आप यह रहस्योद्घाटन करें।"

देवर्षि मुस्कुराये, कुछ पलों के मौन के बाद गद्गद वाणी में बोले,

"देवि, आपने उस दिन मुझ पर जो कृपा बरसायी उसके लिए मैं सदैव आपका ऋणी रहूंगा। उस दिन श्रीराधा ने स्वयं अपने कर-कमलों से तुलसी का एक दल रखा नहीं कि भगवान् वासुदेव भारहीन से हो गये। राधा जी ने साक्षात् भक्ति अपने प्रियतम को भेंट की, इतना ही नहीं, साथ-साथ स्वयं अपने-आपको, अपने हृदय को उस पलड़े पर रख दिया था श्रीराधा ने। ऐसा तुलसीदल—जिसका त्रिलोक में कोई मूल्य नहीं आंका जा सकता—वह मेरे हिस्से आया। देवि! उसमें तो श्रीकृष्ण और श्रीराधा दोनों समाये हुए हैं क्योंकि जहां श्रीराधा का हृदय हो वहां श्रीकृष्ण ही विराजमान रहते हैं। हे सत्यभामा! आपने मुझे केवल अपने स्वामी का दान किया था, और उन वृषभानुनन्दिनी की कृपा से मुझे सदा-सदा के लिए श्रीराधाकृष्ण दोनों की प्राप्ति हो गयी।"

सत्यभामा जी नतमस्तक हो उठीं और नारद जी अपनी जटाओं में सहेजी अनमोल भेंट का स्पर्श कर फिर से उसी आनन्द-धाम में आकण्ठ डूब गये।

'पुरोधा', मार्च २००७ —वन्दना

जब मन भगवान् की ओर मुड़ता है, वह शक्तिशाली यन्त्र बन जाता है।

Space on this page is offered by:

DEORAH SEVA NIDHI
Charitable Trust Dedicated to Service
(Founder trustee: Late Shri S. L. Deorah)
25, Ballygunge Park, Kolkata - 700 019

अग्निशिखा का वार्षिक शुल्क :

एक वर्ष—१८० रु.; तीन्न वर्ष—५२० रु.; पांच वर्ष—८६० रु.।

पत्रिका हर महीने की ४ तारीख को प्रेषित की जाती है।

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)
फोन– 0565–3240006, 9358340375
Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com